(१) पं० अजितप्रसादजी जैन एम. ए. एल. एल. बी. भू. पू. जज बीकानेर हाईकोर्ट, सम्पादक अंग्रेजी जैन गजट, लखनऊ

(२) शास्त्र ज्ञाता दानवीर सेठ भैरोंदानजी सेठिया, बीकानेर

(३) ....

प्रतियोगिता में करीब १५ निबंध आये थे। उनमें से यह सर्व श्रेष्ठ तीन निबंध हैं। स्मरण रखना चाहिए कि इन निबंध की विरोधी विचारधारा का समर्थक एक भी निबंध प्राप्त नहीं हुआ था।

हम प्रतियोगिता के आयोजक, लेखकों और परीक्षकों के आभारी हैं, जिनके सहयोग से यह पुस्तक प्रकाश में आ सकी है। आशा है, जिस सद्भावना के साथ पुस्तक प्रकाशित की जा रही है, पाठक उसी सद्भावना से इसे अपनाएँगे तो विचार की अच्छी सामग्री उन्हें प्राप्त होगी।

निवेदकः—

ब्यावर	**धीरजलाल के० तुरखिया**
अक्षय तृतीया	*अधिष्ठाता*
वीर सं. २४८० वि. सं. २०१०	श्री जैन गुरुकुल शिक्षण संघ

१

कृषिकर्म और जैनधर्म

[लेखकः-श्री पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल, न्यायतीर्थ.]

——::::()::::——

कृषिकर्म, जैनधर्म से विरुद्ध है या अविरुद्ध, इस बात का विचार करने से पूर्व यह देखना उचित होगा कि धर्म क्या है ? और जीवन में धर्म का स्थान क्या है ? क्या धर्म कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के लिए है या सर्वसाधारण के हित के लिए ? इन प्रश्नों पर सरसरी निगाह डालने से कृषिकर्म का जैन-धर्म के साथ जो संबंध है, उसे समझना सरल हो जायगा।

धर्म जीवन का अमृत है—जीवन का संस्कार है; अतएव वह जीवमात्र के हित के लिए है। धर्म का प्रांगण इतना विशाल है कि उसमें किसी भी प्राणी के लिए स्थान की कमी नहीं है। यह बात दूसरी है कि कोई धर्म की छत्रछाया में न जावे और उससे अलग ही रहने में अपनी भलाई समझे; मगर धर्म किसी को अपनी शीतल छाया में आने से नहीं रोकता।

धर्म की अमृतमयी गोद में बैठकर शांतिलाभ करने का अधिकार सब को समान है, चाहे कोई किसी भी जाति का, वर्ग का और वर्ण का हो और किसी भी प्रकार की आजीविका करके जीवननिर्वाह करता हो। इतना ही नहीं, धर्म-साधना का जितना अधिकार मनुष्य को है, उतना ही पशु-पक्षी और कीट-पतङ्ग को भी है। अलबत्ता धर्मसाधना की मात्रा प्रत्येक प्राणी की अपनी-अपनी योग्यता पर निर्भर है।

मध्यकाल में धर्म के संबंध में जो विविध भ्रांतियाँ उत्पन्न हो गई हैं, उन भ्रांतियों के कारण अनेकानेक रूढ़ियाँ जन्मी हैं। ऐसी रूढ़ियाँ अब तक हमारे यहाँ प्रचुर परिमाण में विद्यमान हैं। इन रूढ़ियों और भ्रमणाओं के काले बादलों में, सूर्य की भाँति चमकता हुआ धर्म का असली स्वरूप छिप गया है। आज समाज का अधिकांश भाग धर्म की वास्तविकता से अनभिज्ञ है।

धर्म संबंधी भ्रांतियों में एक बहुत बड़ी भ्रांति यह भी है है कि धर्म व्यक्तिगत उत्कर्ष का साधक है और सामाजिक व्यवस्थाओं के साथ उसका कोई लेनदेन नहीं है। निस्सन्देह यह धारणा भ्रमपूर्ण ही है, क्योंकि व्यक्ति, समाजसमुद्र का एक बिन्दुमात्र है। कोई भी व्यक्ति समाज से सर्वथा निरपेक्ष रहकर जीवित नहीं रह सकता। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन पर सामाजिक स्थिति का गहरा प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। इसके अतिरिक्त अगर धर्म का संबंध सिर्फ व्यक्तिगत जीवन

के साथ ही होता तो धर्मप्रवर्त्तक श्रीमहावीर स्वामी स्वयं ही संघ की स्थापना क्यों करते ? सचाई यह है कि संघ या समाज के विना वैयक्तिक जीवन निभ नहीं सकता। अतएव धर्मशास्त्र में जहाँ आत्मधर्म (व्यक्तिगतधर्म) का निरूपण किया गया है, वहीं *राष्ट्रधर्म, संघधर्म आदि की भी प्ररूपणा की गई है। आशय यह है कि धर्म का संबंध व्यक्ति और समाज दोनों के साथ है। अतएव किसी धार्मिक आचार का विचार करते समय हमें समाजतत्त्व को भूलना नहीं चाहिए।

आत्मा अमूर्त्तिक है, अतीन्द्रिय है, यह सब सही है, लेकिन इससे भी अधिक प्रत्यक्ष सत्य यह है कि हमें आत्मा की उपलब्धि शरीर के साथ ही होती है। हम शरीर के विना जीवित नहीं रह सकते। जो अशरीर है उन्हें धर्म की आवश्यकता नहीं है। जिनके लिए धर्म है वे सब सशरीर हैं। और शरीर ऐसी चीज़ नहीं है, जिसका स्वेच्छापूर्वक चाहे जब त्याग कर दिया जाय। शरीर धर्मसाधना का भी प्रधान अंग है। शरीर का निर्वाह करना हमारे जीवन की एक ऐसी मूलभूत आवश्यकता है. जिसकी उपेक्षा कोई महान् से महान् आत्मनिष्ठ मुनि भी नहीं कर सकता।

चाहे कोई कितना ही सयमशील क्यों न हो, शरीर-निर्वाह के लिए अन्न-वस्त्र की आवश्यकता उसे भी रहती है। वस्त्रों के अभाव में भी कदाचित् जीवित रहा जा सकता है,

---

* ठाणांग सूत्र, ठाणा १० वां

किन्तु अन्न के बिना नहीं। 'अन्नं वै प्राणाः' यह एक ठोस सत्य है। ऐसी स्थिति में अन्न उपार्जन करने के लिए किया जाने वाला कर्म-कृषिकर्म-क्या अधर्म है ? जिसके बिना प्राणों की स्थिति नहीं रह सकती, जिसके अभाव में जीवननिर्वाह असंभव है, जिस पर मनुष्य समाज का अस्तित्व अवलंबित है, उस कार्य को एकान्त अधर्म कहना कहाँ तक उचित है ? जो लोग संतोष के साथ अन्नोपार्जन करके जगत् की रक्षा कर रहे हैं, उन्हें अधार्मिक या पापी कहना क्या अतिसाहस और विचारहीनता का द्योतक नहीं है ?

पहले कहा जा चुका है कि धर्म, जीवन का अमृत है। किन्तु जो धर्म जीवन का विरोधी है, जीवन का विष है, जीवननिर्वाह का निषेध करता है, वह वास्तविक धर्म नहीं हो सकता। मगर धर्म वास्तव में इतना अनुदार नहीं है। कृषि जैसे उपयोगी कार्य करने वालों को वह अपनी छत्र-छाया से वंचित नहीं करता। ऐसा करने वाला धर्म स्वयं खतरे में पड़ जाएगा। अन्न के अभाव में, धर्म का आचरण करने वाले धर्मात्मा जीवित नहीं रह सकते और धर्मात्माओं के अभाव में धर्म टिक नहीं सकता। आचार्य समन्तभद्र ने यथार्थ ही कहा है—न धर्मो धार्मिकैर्विना।*

एक ओर हम जैनधर्म की विशालता, व्यापकता और उदारता की प्रशंसा करते-करते नहीं थकते और यह दावा

---

* रत्नकरण्डक श्रावकाचार।

करते हैं कि वह प्राणिमात्र का त्राण करने वाला और इसी लिए विश्वधर्म बनने के योग्य है। दूसरी ओर उसे इतने संकीर्ण रूप में चित्रित करते हैं कि विश्व को जीवन देने वाले कार्य करने वालों को भी धर्म की परछाई से अलग कर देना चाहते हैं। हमारे यह परस्पर विरोधी दावे चल नहीं सकते। जिन भगवान् ने प्राणी मात्र के लिए धर्म का उपदेश दिया है। अतएव जिन कार्यों से दूसरों का अनिष्ट नहीं होता, वरन् रक्षा होती है, ऐसे उपयोगी कार्य करने वाले धर्मबाह्य नहीं कहला सकते, जब कि वे धर्म का आराधन करने के इच्छुक हों।

खेती और हिंसा

बहुत से लोगों की यह धारणा है कि खेती का काम हिंसा जनक होने के कारण त्याज्य है। खेती में असंख्य त्रस जीवों का और स्थावर जीवों का घात होता है। अतएव त्रस जीवों की हिंसा का त्यागी श्रावक खेती नहीं कर सकता। श्रावक को अपने जीवननिर्वाह के लिए अल्प-आरंभ वाली आजीविका करनी चाहिए, जिससे धर्म की साधना भी हो और जीवन-निर्वाह भी हो। ऐसी विचारधारा से प्रेरित होकर लोगों का ध्यान प्रायः सट्टे की ओर जाता है। सट्टे में न आरंभ है, न हिंसा है। न कुछ करना पड़ता है, न धरना पड़ता है। न लेन, न देन, फिर भी लाखों का लेनदेन हो जाता है। लोग सोचते हैं—कहाँ तो असीम हिंसा का कारण महारंभ-

मय खेती और कहाँ निरारंभ सट्टा !

इस विचारधारा के कारण ही शायद बहुत से जैन गृहस्थ कृषिकार्य से विमुख होकर सट्टा करते हैं और उसी में संतोष मानते हैं।

इसमें तो संदेह ही नहीं कि कृषि करने में त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा होती है, और अगर जैनधर्म सिर्फ साधुओं का ही धर्म होता तो यह भी निःसंकोच कहा जा था कि कृषिकर्म, जैनधर्म से असंगत है। मगर ऐसी बात नहीं है। जैनधर्म जैसे साधुओं के लिए है वैसे ही श्रावकों-गृहस्थों के लिए भी है। धर्म की उपयोगिता नीचे के स्तर (Standard) के जीवों को ऊंचे स्तर पर ले जाने में है। जो धर्म गृहस्थों के भी काम न आ सके वह धर्म ही कैसा? अविरत सम्यग्दृष्टि, जो जैनाचार का तनिक भी पालन नहीं करता, सिर्फ जैनधर्म पर श्रद्धाभाव ही रखता है, वह भी जैनधर्मी ही कहलाता है। इस प्रकार जब गृहस्थ भी जैन-धर्म का अनुयायी है तो प्रश्न उपस्थित होता है कि उसकी अहिंसा की मर्यादा क्या है? कृषिकर्म उस मर्यादा में है या उससे बाहर है?

शास्त्रों में हिंसा के मुख्य दो भेद बतलाये गये हैं— (१) संकल्पजा हिंसा और (२) आरम्भजा हिंसा। मारने की भावना से जानबूझकर जो हिंसा की जाती है वह संकल्पजा हिंसा कहलाती है, जैसे शिकारी की हिंसा।

जीवननिर्वाह, भवननिर्माण, पशुपालन आदि कार्यों में जो हिंसा होती है, जिसमें प्राणियों को मारने का संकल्प नहीं होता, वह आरंभजा हिंसा कहलाती है। आरंभजा हिंसा भी दो प्रकार की है—निरर्थक और सार्थक। जो हिंसा विना किसी प्रयोजन—व्यर्थ की जाती है वह निरर्थक आरंभजा हिंसा है और जो प्रयोजनविशेष से की जाती है, वह सार्थक आरंभजा हिंसा है। साधारण श्रावक सिर्फ संकल्पजा हिंसा और निरर्थक आरंभजा हिंसा का त्यागी होता है। वह सार्थक आरम्भजा हिंसा का त्यागी नहीं होता। अगर वह इस हिंसा का भी त्याग कर वैठे तो फिर वह गृहस्थी का कोई भी काम नहीं कर सकता। इस स्थिति में साधु और श्रावक के अहिंसाव्रत में कोई अन्तर ही नहीं रह जाएगा।

गृहस्थधर्म का प्रतिपादन करने वाले उपासकदशांग सूत्र में आनन्द श्रावक के व्रतग्रहण में यह पाठ आया है—'थूलगं पाणाइवायं पच्चक्खाइ—जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा।' अर्थात् दो करण और तीन योग से आनन्द स्थूल हिंसा का त्याग करता है।

स्थूल हिंसा किसे समझना चाहिए? इस प्रश्न का स्पष्टीकरण श्रीहेमचन्द्राचार्य ने अपने योगशास्त्र में इस प्रकार किया है—

'स्थूला—मिथ्यादृष्टीनामपि हिंसात्वेन प्रसिद्धा या हिंसा सा स्थूल-

हिंसा। स्थूलानां वा त्रसानां जीवानां हिंसा स्थूलहिंसा। स्थूलग्रहणमुपलक्षणं, तेन निरपराधसङ्कल्पपूर्वकहिंसानामपि ग्रहणम्।'

—योगशास्त्र, द्वि. प्र. श्लोक १८ (टीका)

अर्थात् जिस हिंसा को मिथ्यादृष्टि भी हिंसा समझते हैं, वह स्थूलहिंसा कहलाती है। अथवा स्थूल जीवों की अर्थात् त्रसजीवों की हिंसा स्थूल हिंसा कहलाती है। यहाँ स्थूल का ग्रहण उपलक्षणमात्र है, अतएव निरपराध जीव की संकल्प-पूर्वक की जाने वाली हिंसा भी समझ लेनी चाहिए।

इससे आगे आचार्य ने और भी स्पष्ट किया है—

पङ्गुकुष्ठिकुणित्वादि, दृष्ट्वा हिंसाफलं सुधीः।
निरागस्त्रसजन्तूनां हिंसां सङ्कल्पतस्त्यजेत ॥

अर्थात्—हिंसा करने वाले अगले जन्म में लँगड़े, कोढ़ी और कुबड़े आदि होते हैं, हिंसा का यह अनिष्ट फल देखकर बुद्धिमान् श्रावक को निरपराध त्रसजीवों की संकल्पी हिंसा का त्याग करना चाहिए।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रावक के द्वारा होने वाली निम्नलिखित हिंसा से उनका अहिंसाणुव्रत खंडित नहीं होता—

(क) अपराधी त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा से।
(ख) निरपराध त्रस जीवों की आरंभजा हिंसा से।
(ग) स्थावर जीवों की हिंसा से।

अब हमें यह देखना है कि खेती करने में जो हिंसा होती

है, वह उक्त तीन तरह की हिंसा में अन्तर्गत है या नहीं? खेती में होने वाली हिंसा उक्त ख और ग विभाग के अन्तर्गत है। खेती करने वाले का उद्देश्य हिंसा करना नहीं, वरन् खेती करना होता है। इसका प्रमाण यह है कि खेती करने वाले श्रावक को अगर एक हजार रुपये का प्रलोभन देकर कहा जाय कि—हजार रुपये ले लो और इस मकोड़े को मार डालो, तो वह ऐसा करने को तैयार न होगा। जो किसान श्रावक खेती करने में अनगिनती जीवों की हिंसा करके सौ-दो सौ रुपयों का धान्य पाता है, वह हजार रुपये लेकर भी एक मकोड़े को मारने के लिए तैयार नहीं होता। इसका कारण यह है कि मकोड़े को मारना संकल्पी हिंसा है और खेती की हिंसा आरंभी हिंसा है। असंख्य जीवों की आरंभी हिंसा होने पर भी श्रावक का अहिंसाव्रत भंग नहीं होता, जब कि एक मकोड़े की संकल्पी हिंसा से भी व्रत का भंग हो जाता है। आरंभी हिंसा और संकल्पी हिंसा की तुलना करते हुए श्रीआशाधरजी सागारधर्मामृत नामक श्रावकाचार में कहते हैं—

आरम्भेऽपि सदा हिंसां सुधीः साङ्कल्पिकीं त्यजेत्।
घ्नतोऽपि कर्षकादुच्चैः पापोऽघ्नन्नपि धीवरः॥

—सागार० द्वि. अ.

अर्थात्—समझदार श्रावक आरंभ करने में भी संकल्पी हिंसा का त्याग करे, क्योंकि संकल्पी हिंसा अतिशय पापमय

है। खेती करने के भाव से पृथ्वीकाय आदि की हिंसा करने वाले किसान की अपेक्षा, मछली आदि न मारने वाला किन्तु मारने का संकल्प करने वाला मच्छीमार अधिक पापी है।

वास्तव में संकल्पी हिंसा में परिणाम अत्यन्त उग्र और दुष्ट होता है, आरंभी हिंसा में नहीं होता। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि खेती करने से श्रावक का अहिंसाणुव्रत खंडित नहीं होता।

खेती और महारंभ

दूसरा प्रश्न अल्पारंभ-महारंभ का है। कुछ लोगों की साधारण धारणा है कि खेती महारंभ का कार्य है, अतएव वह श्रावक के लिए हेय है। किन्तु हमें यह देखना है कि क्या खेती सचमुच महारंभ का कार्य है?

आजकल जनता में अल्पारंभ-महारंभ के संबंध में अनेक भ्रम फैले हुए हैं। जैनधर्म के उद्‌भट विद्वान् स्वर्गीय आचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज ने इस विषय में बहुत विस्तृत और विचारपूर्ण व्याख्यान किया है। हम पाठकों से उनके इस संबंध के व्याख्यान पढ़ जाने का आग्रह करते हैं। उन्होंने सन् १९२७ में कहा था—

'मित्रो! एक प्रश्न मैं तुम्हारे सामने रखता हूँ। बताओ खेती करने में ज्यादा पाप है या जुआ खेलने में? ऊपर की दृष्टि से जुआ (सट्टा) अल्प पाप गिना जाता है। इसमें किसी

की हिंसा नहीं होती। केवल इधर की थैली ,उधर उठाकर रखनी पड़ती है। पर खेती में? एक हल चलाने में न जाने कितने जीवों की हिंसा होती है? यह कहना भी अत्युक्ति नहीं कि खेती में छहों कायों की हिंसा होती है।

मित्रो! उथले विचार से ऐसा मालूम होता है सही, पर अगर गहराई में जाकर विचार करेंगे तो आपको कुछ और ही प्रतीत होगा। आप इस बात पर ध्यान दीजिए कि जगत् का कल्याण किसमें है? पाप का मूल क्या है? क्या संदेह करने की बात है कि खेती के बिना जगत् सुखी नहीं रह सकता? खेती से प्राणियों की रक्षा होती है। थोड़ी देर के लिए कल्पना कीजिए कि संसार के सब किसान कृपिकार्य छोड़कर जुआरी बन जाएँ तो कैसी बीते?

जिस कार्य से जगत् के प्राणियों की रक्षा होती है। पालन होता है, वह कार्य शुभ है या पाप का? वह कार्य एकांत पाप का नहीं हो सकता।

अब आप जुए की तरफ़ देखिए। जुआ जगत्कल्याण में तनिक भी सहायक नही है। बल्कि जुआ खेलने वालों में झूठ, कपट, छलछिद्र, तृष्णा आदि अनेक दुर्गुण पैदा हो जाते हैं। अधिक क्या कहें, संसार में जितने भी दुर्गुण हैं, वे सब जुए में विद्यमान हैं।

जुआ और खेती के पाप की तुलना करते समय आप यह न भूल जाइए कि शास्त्रों में जुए को सात कुव्यसनों में गिना

गया है, पर खेती करना कुव्यसनों के अन्तर्गत नहीं है। श्रावक को सात कुव्यसनों का त्याग करना आवश्यक है। अगर जुए की अपेक्षा खेती में अधिक पाप होता तो कुव्यसनों की अपेक्षा खेती का पहले त्याग करना आवश्यक होता। परन्तु शास्त्र कहते हैं—आनन्द जैसे धुरंधर श्रावक ने श्रावकधर्म धारण करने के पश्चात् भी खेती करने का त्याग नहीं किया था।

जो लोग यह समझते हैं कि हमें बिना विशेष आरंभ किये, बाजार से ही धान्य मिल सकता है तो धान्योपार्जन करने के लिए आरंभ-समारंभ क्यों किया जाय? भले ही खेती में महारंभ न हो, किन्तु जिस आरंभ से बचना संभव है, उससे क्यों न बचना चाहिए?

इस प्रश्न का समाधान करने के लिए आचार्य सोमदेव सूरि की यह सूक्ति ध्यान देने योग्य है—

क्रीतेष्वाहारेष्विव पण्यस्त्रीषु क आस्वादः?

—नीतिवाक्यामृत, वार्त्तासमुद्देश।

आचार्य ने यहाँ खरीदे हुए आहार और वेश्या की तुलना की है। यह तुलना बड़ी बोधप्रद है और धार्मिक भी है। विवाह करने में अनेक आरंभ-समारंभ करने पड़ते हैं, सैकड़ों तरह की झंझटों में पड़ना पड़ता है, बाल-बच्चों की परम्परा चलती है और उस परम्परा से पाप की परम्परा बढ़ती चलती है। स्त्री और बालबच्चों के भरण-पोषण के

लिए न जाने कितना आरंभ करना पड़ता है। इस महारंभ से बचने के लिए वेश्यागमन करके ही कामवासना तृप्त क्यों न कर ली जाय? थोड़े से पैसे खर्च किये और अनेकानेक पापों से बचे। कहाँ तो पापों की परम्परा और कहाँ वेश्या का अल्प पाप!

इस प्रकार ऊपरी दृष्टि से वेश्यागमन में अल्प पाप और विवाह करने में महापाप भले ही प्रतीत होता हो, लेकिन कोई भी विवेकशील पुरुष इस व्यवस्था का समर्थन नहीं कर सकता। धर्मशास्त्रों से तो इसका समर्थन हो ही नहीं सकता। तात्पर्य यह है कि अल्पारम्भ और महारंभ की मीमांसा बाह्य दृष्टि से और तात्कालिक कार्य से नहीं की जानी चाहिए। संसार की व्यवस्था और समाजकल्याण की दृष्टि भी इसमें गर्भित है।

इसके अतिरिक्त, थोड़ी देर के लिए मान भी लिया जाय कि बाजार से धान्य लाकर खाना ही धर्मसंगत है और धान्य उपार्जन करना अधर्म है, तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि बाजार में धान्य आएगा कहाँ से? अगर सभी मनुष्य इस धर्म को अंगीकार कर लें और खेती करना छोड़ दें तो जगत् की क्या स्थिति होगी? क्या धर्म के प्रचार का फल प्रलय होना चाहिए? जिस धर्म को अंगीकार करने से जगत् में हाय-हाय मच जाए, मनुष्य भूखे तड़फ-तड़फ कर प्राण दे दें, वह धर्म क्या विश्वधर्म बनने के योग्य है? अथवा वे

लोग, जो अपने धर्म का पालन करने के लिए दूसरों को बलात् अधर्म में प्रवृत्त करेंगे, क्या धर्मात्मा कहे जा सकेंगे ?

धर्म का उद्देश्य केवल पारलौकिक शांति,-सुख नहीं है। ऐहलौकिक शांति, सुख और सुव्यवस्था भी धर्म का लक्ष्य है। परलोक, इस लोक पर अवलंबित है और इस लोक की सुख-शांति कृषिकर्म पर बहुत कुछ अवलंबित है। आचार्य सोमदेव सूरि कहते हैं—

'तस्य खलु संसारसुखं यस्य कृषिर्धेनवः शाकवाट' सद्मन्युदपानं च ॥ टीका—तस्य गृहस्थस्य खलु निश्चयेन सुखं भवति यस्य किं ? यस्य गृहे सदैव कृषिकर्म क्रियते तथा धेनवो महिष्यो भवन्ति।

—नीतिवाक्यामृत, पृ. ६२।

अर्थात्—उस गृहस्थ को निश्चय ही सुख की प्राप्ति होती है, जिसके घर में सदैव खेती की जाती है, तथा गायें और भैंसे होती हैं।

आचार्य सोमदेवजी यद्यपि स्पष्ट रूप से खेती और पशु-पालन करने का विधान नहीं करते, ऐसा करना साधु के आचार के विरुद्ध है, तथापि उनका आशय एकदम स्पष्ट है। वे परोक्षरूप से कृषि और पशुपालन का गृहस्थ के लिए समर्थन करते हैं। ऐसी दशा में यह कैसे कहा जा सकता है कि खेती करना श्रावकधर्म से विरुद्ध है ! अतएव आरंभ-

समारंभ की दृष्टि से कृषि का श्रावक के लिए निषेध करना उचित नहीं है।

कृषि-कार्य में आरंभ नहीं है, यह कहना यहाँ अभीष्ट नहीं है। कृषि में ही क्यों, आरंभ तो छोटे से छोटे कार्य में भी होता है। यहाँ तक कि घर आये हुए को आसन देने में भी आरंभ होता ही है। कहने का आशय यह है कि कृषि का आरंभ त्यागना श्रावकधर्म की मर्यादा में नहीं है। श्रावक की योग्यतानुसार उसके आचार की अनेक कोटियाँ हैं। उसका आचार अनेक प्रकार का होता है। कोई श्रावक साधारण त्यागी होता है, कोई प्रतिमाधारी होता है। जैनशास्त्रों में बतलाया गया है कि प्रत्येक प्रतिमाधारी श्रावक भी कृषि के आरंभ का त्यागी नहीं होता। प्रतिमाओं का सेवन क्रमपूर्वक ही होता है और आरंभत्यागप्रतिमा (पडिमा) में श्रावक खेती का त्याग करता है। दिगम्बर संप्रदाय के सुप्रसिद्ध आचार्य श्रीसमन्तभद्र कहते हैं—

सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखादारम्भतो व्युपारमति।
प्राणातिपातहेतोर्योऽसावारम्भविनिवृत्तः॥

—रत्नकरण्डक श्रावकाचार, अ. २।

अर्थात्—सेवा, कृषि और व्यापार आदि आरंभ से, जो हिंसा के हेतु हैं, जो श्रावक निवृत्त होता है वह आरंभत्याग प्रतिमा का पालक कहलाता है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्य श्री सिद्धसेन ने भी प्रवचनसारोद्धार की टीका में लिखा है—

एषा पुनर्नवमी–प्रेष्यारम्भवर्जनप्रतिमा भवति, यस्यां नव मासान् यावत्पुत्रभ्रातृप्रभृतिषु न्यस्तसमस्तकुटुम्बादिकार्यभारतया धन–धान्यादिपरिग्रहेष्वल्पाभिष्वङ्गतया च कर्मकरादिभिरपि आस्तां स्वयं, आरम्भान् सपापव्यापारान् महतः कृष्यादीनिति भावः।

—प्रवचनसारोद्धार।

आशय यह है कि प्रतिमाधारी श्रावक आरंभत्याग नामक आठवीं प्रतिमा में स्वयं आरंभ करने का त्याग कर देता है। तत्पश्चात् प्रेष्यारंभ त्याग नामक नौवीं प्रतिमा धारण करता है। इस प्रतिमा में वह नौकरों–चाकरों से भी खेती का काम नहीं कराता, क्योंकि वह अपने भाई या पुत्र आदि पर कुटुम्ब का भार छोड़ देता है और परिग्रह में उसकी आसक्ति कम होती है। यह प्रतिमा नौ मास की होती है।

आरंभ के अनेक काम है, फिर भी यह बात ध्यान देने योग्य है कि स्वामी समन्तभद्र और श्री सिद्धसेन सूरि-दोनों ने ही, बल्कि सागारधर्मामृत आदि अन्य ग्रन्थों के कर्त्ताओं ने भी, आरंभत्याग प्रतिमा का स्वरूप बतलाते हुए कृषि का उल्लेख किया है।※ समन्तभद्राचार्य सेवा और वाणिज्य के साथ कृषि का उल्लेख करते हैं। और सिद्धसेन सूरि सिर्फ कृषि का

※ निरूढसप्तनिष्ठोऽङ्गिघाताङ्गत्वात्करोति न।
न कारयति कृष्यादीनारम्भविरतस्त्रिधा॥ —सागारधर्मामृत

उल्लेख करके उसमें 'आदि' पद जोड़ देते हैं। आशाधरजी भी कृषि का उल्लेख अवश्य करते हैं और उसमें 'आदि' पद सिद्धसेनजी की भाँति ही लगा देते हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि शायद उस समय भी कुछ लोगों को खेती के विषय में भ्रम होगा और उस भ्रम का निवारण करने के लिए आचार्यों ने अपने-अपने समय में आरंभत्याग प्रतिमा का स्वरूप बतलाते समय कृषि का खास तौर से उल्लेख किया होगा—यह बतलाने के लिए कि कृषि का त्याग आठवीं प्रतिमा में होता है। कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि इस विषय में दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदायों के आचार्य एकमत हैं कि कृषि का त्याग साधारण श्रावक के लिए जरूरी नहीं है। दिगम्बर सम्प्रदाय के आठवीं प्रतिमाधारी श्रावक प्रायः गृहवास का त्याग कर देते हैं और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार आजकल प्रतिमाओं का धारण ही नहीं हो सकता। इससे यह स्पष्ट है कि गृहस्थ श्रावकों से खेती का त्याग करने के लिए कहना और खेती करने से श्रावकधर्म की मर्यादा का भंग मानना भ्रमपूर्ण है।

यह अत्यन्त खेद की बात है कि हमारे कतिपय धर्मगुरु भी प्रायः इस भ्रम में पड़े हुए हैं। इसका परिणाम यह होता है कि गृहस्थों को गृहस्थधर्म की बातें नहीं बतलाई जातीं और साधुधर्म का आचार उन पर लादा जाता है। गृहस्थ, श्रावक के कर्त्तव्यों का भली-भाँति पालन नहीं करते और साधुधर्म

का पालन तो कर ही कैसे सकते हैं ? इस प्रकार वे न इधर के रहते हैं, न उधर के। वे अनेक अवांछनीय प्रवृत्तियों में पड़ जाते हैं. इसका एक प्रधान कारण यही आचारविभ्रम है।

कृषि कर्मादान नहीं है

खेती के संबंध में एक बात और विचारणीय है। वह यह है कि क्या खेती करना पन्द्रह कर्मादानों में से फोडीकम्मे (स्फोटिकर्म) के अन्तर्गत है ? कुछ लोगों की धारणा है कि हल के द्वारा ज़मीन को फोड़ना 'फोडीकम्मे' नामक कर्मादान है। कर्मादान. भोगोपभोग परिमाण व्रत के अतिचार हैं. अतः व्रतधारी श्रावक अगर निरतिचार व्रतों का पालन करना चाहे, तो उसे कृषिकर्म नहीं करना चाहिए।

वास्तव में यह विचार भी अभ्रान्त नहीं है। अगर खेती करना कर्मादान में सम्मिलित होता तो भगवान महावीर स्वामी के समक्ष बारह व्रत ग्रहण करने वाला आनन्द श्रावक पाँच सौ हलों से जोती जा सकने योग्य खेती की मर्यादा कैसे कर सकता था ? क्या भगवान् उसे यह न समझाते कि व्रती श्रावक खेती नहीं कर सकता ! मगर आनन्द बारह व्रत ग्रहण करता है, फिर भी पाँच सौ हलों से जुतने योग्य खेती करने की छूट रखता है। इस बात का उपासकदशांग सूत्र में स्पष्ट उल्लेख है। मूल पाठ यह है:—

'तयाणंतरं च णं खेत्तवत्थुविहिपरिमाणं करेइ-नन्नत्थ पंचहि हलसएहिं नियत्तणसइएणं हलेणं अवसेसं खेत्तवत्थुविहिं पच्चक्खामि।

—उपासकदशांग, १ला अध्ययन।

अर्थात्—तत्पश्चात् आनन्द श्रावक क्षेत्रवास्तुविधि का परिमाण करता है—सौ निवर्त्तन (एक तरह का ज़मीन का नाप) जोतने वाले एक हल के हिसाब से पाँच सौ हलों द्वारा जुतने योग्य भूमि के अतिरिक्त बाकी की भूमि का प्रत्याख्यान करता हूँ।

इस प्रकार अन्यान्य व्रतों को ग्रहण करने के पश्चात् ही आनन्द प्रतिज्ञा करता है—

'समणोवासएणं पण्णरसकम्मादाणाइं जाणियव्वाइं, न समायरियव्वाइं, तं जहा—इंगालकम्मे, वणकम्मे, साडिकम्मे, भाडिकम्मे, फोडिकम्मे'' • • • ••

अर्थात—श्रावक को पन्द्रह कर्मादान जानने योग्य हैं, पर आचरण करने योग्य नहीं हैं, वह इस प्रकार हैं—अगारकर्म, वनकर्म, शकटकर्म, भाटककर्म, स्फोटिकर्म आदि-आदि।

उपासकदशांग सूत्र के यह दोनों उल्लेख साफ बतलाते हैं कि खेती करना स्फोटिकर्म कर्मादान नहीं है, क्योंकि आनन्द श्रावक कर्मादान का त्याग करता हुआ भी खेती का त्याग नहीं करता। खेती करना अगर कर्मादान में गिना जाय तो यह प्रतिज्ञाएँ परस्पर विरोधी हो जाती हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि व्रत ग्रहण कराने वाले स्वयं भगवान् हैं और ग्रहण करने वाला आदर्श श्रावक आनन्द है।

शास्त्र में आनन्द श्रावक का चरित मनोरंजन के लिए, नानी की कहानी की तरह नहीं लिखा गया है। यह एक आदर्श चरित है, जो इस भावना से लिखा गया है कि आगे के श्रावक उसे अपना पथप्रदर्शक समझें और उसका अनुकरण करें। लेकिन हम लोगों के बारह व्रतों की बात ही दूर, मूल गुणों तक का ठिकाना नहीं है और चले हैं हम आनन्द से भी आगे बढ़ने! आनन्द पाँच सौ हल चलाने की छूट रखता है और हम एक हल चलाने में ही महापाप मानकर उसका त्याग करने की धृष्टता करते हैं! आचार का यह व्यतिक्रम, विकास का नहीं, अधःपतन का ही कारण हो सकता है।

पन्द्रह कर्मादानों में एक साड़ीकर्म अर्थात शकटकर्म भी है। शकटकर्म का अर्थ है—गाड़ी बनने, बेचने और चलाने की आजीविका करना। अगर इस कर्मादान का फोड़ीकर्म की भाँति समान्य अर्थ लिया जाय तो श्रावक बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी, तांगा, मोटर आदि कोई गाड़ी भी नहीं रख सकेगा, क्योंकि शकट चलाना कर्मादान है और व्रती श्रावक को कर्मादान का त्याग करना ही चाहिए।

औरों की बात जाने दीजिए और सिर्फ पहले कर्मादान 'अंगारकर्म' को ही लीजिए। श्रावक अपने उदरनिर्वाह के लिए अग्नि जलाता है, कोयले जलाता है, तो क्या उसे कर्मादान का महापाप लगता है? अगर भोजन बनाने के लिए

अंगार जलाने से ही कर्मादान का महापातक लग जाता है और श्रावक का व्रत दूषित हो जाता है तो फिर कर्मादानों का त्याग करने के लिए आजीवन संथारा लेने के सिवाय और क्या चारा है? इस प्रकार श्रावक के व्रत ग्रहण करना अर्थात् शीघ्र ही मौत को आमंत्रण देना ही ठहरता है। धर्म की यह कितनी ऊलजलूल व्याख्या है!

लेकिन कर्मादानों का वास्तविक स्वरूप यह नहीं है। श्रावक अपने लिए गाड़ी बनाए, खरीदे और स्वयं चलावे तो भी 'साडीकम्मे' कर्मादान नहीं लगता। कर्मादान का पाप उस हालत में लगता है जब कि गाड़ी बनाने का धंधा ही अख्तियार कर लिया जाय और उसी धंधे से आजीविका चलाई जाय। इसी प्रकार अपने भोजन आदि उपयोग के लिए अंगार जलाने का काम करने से 'अंगारकर्म' कर्मादान नहीं लगता। कोयला बना-बना कर बेचने का व्यापार करने से कर्मादान लगता है। यही बात कृषि के संबंध में है। खेती करना 'फोडीकम्मे' कर्मादान नहीं है, वरन् हल चला-चला कर खेत को सुपाक के लायक बना कर आजीविका करना—हल चलाने का ही धंधा करना, और हल चलाकर उपार्जित किये हुए धन से निर्वाह करना कर्मादान है।

'फोडीकम्मे' कर्मादान में तालाब खोदना, कुआ-बावड़ी खोदना आदि कार्य भी गिने जाते हैं। परन्तु हमारा सहज ज्ञान क्या यह स्वीकार करने के लिए तैयार है कि परोपकार

के लिए या अपने उपयोग के लिए कुआ आदि खोदने-खुद-वाने से महान् पाप-इतना बड़ा पाप जिससे श्रावक का व्रत खंडित हो जाय, लगता है ? कदापि नहीं। वास्तव में अपने पेट के लिए भूमि फोड़ने का धंधा करना ही कर्मादान है. कृषि करना कर्मादान में सम्मिलित नहीं है।

जिस कार्य को करने से महान् पाप का बंध होता है. वह कार्य कर्मादान कहलाता है। इस अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे में जब कल्पवृक्ष नष्ट हो गये और कर्मभूमि का आरम्भ हुआ तब तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने उस समय की अज्ञान जनता को कृषिकर्म करने का उपदेश दिया था। श्रीसमन्त-भद्राचार्य ने आदिनाथ की स्तुति करते हुए कहा है—

शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः। —बृहत्स्वयंभूस्तोत्र।

अगर कृषिकर्म आर्योचित कर्म न होता, महान् पाप का कारण होता तो भगवान उसका उपदेश क्यों देते ? भगवान् ने उस समय की प्रजा को जुआ या सट्टा न सिखलाकर खेती की शिक्षा क्यों दी है ? तात्पर्य यह है कि कृषिकर्म न कर्मा-दान है, न अनार्य कर्म है। जगह-जगह उसे वैश्यों का कर्त्तव्य बतलाया गया है। श्रीसोमदेव सूरि लिखते हैं—

कृषिः पशुपालनं वणिज्या च वार्त्ता वैश्यानाम्।

—नीतिवाक्यामृत।

उत्तराध्ययन सूत्र में, 'वइसो कम्मुणा होइ' इस सूत्रांश की टीका इस प्रकार की गई है—'कर्मणा-कृषिपशुपालनादिना

भवति।' अर्थात् कृषि और पशु-पालन आदि कार्यों से वैश्य होता है।

कृषिकर्म वैश्यों का प्रधान कर्त्तव्य है, इस सम्बन्ध में अधिक उद्धरणों की आवश्यकता नहीं है। यही बात दूसरे शब्दों में इस प्रकार कही जा सकती है कि जो वैश्य कृषि, पशुपालन और वाणिज्य रूप वैश्योचित कर्म नहीं करता वह अपने वर्ण से च्युत होता है। वर्णव्यवस्था की दृष्टि से उसे वैश्य नहीं कहा जा सकता।

कृषिकर्म के सम्बन्ध में मुख्य-मुख्य बातों का यहाँ तक विचार किया गया है। इससे यह भलीभाँति सिद्ध है कि कृषिकर्म, श्रावकधर्म को बाधा नहीं पहुँचाता। हाँ जो श्रावक गृहवास का त्याग करके, प्रतिमा धारण करके, विशिष्ट साधना में अपना समय व्यतीत करने के लिए उद्यत होते हैं, वे जैसे अन्यान्य आरंभों का त्याग करते हैं, उसी प्रकार कृषि का भी त्याग कर देते हैं। जो श्रावक व्रतरहित हैं या व्रत सहित होने पर भी आरंभत्याग प्रतिमा की कोटि तक नहीं पहुँचे हैं, उनके लिए कृषिकर्म त्याज्य नहीं है।

कृषि और अन्य आजीविकाएँ

अगर आजीविकाओं पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो यह प्रतीत हुए बिना नहीं रहेगा कि व्याज-खोरी आदि अन्य आजीविकाओं की अपेक्षा कृषि-आजीविका

श्रावकधर्म के अधिक अनुकूल है। सट्टे के साथ, जो एक प्रकार का जुआ ही है, कृषि की तुलना की जा चुकी है। जुआ को धर्मशास्त्रों में त्याज्य ठहराया है। सूदखोरी का धन्धा भी प्रशस्त नहीं है। शास्त्रों में वर्णित कोई आदर्श श्रावक यह धन्धा नहीं करता था।

आचार्य सोमदेव सूरि ने लिखा है—

पशुधान्यहिरण्यसम्पदा राजते-शोभते, इति राष्ट्रम्।

अर्थात्—जो देश पशु, धान्य और हिरण्य से सुशोभित होता है, वही सच्चा राष्ट्र कहलाता है। यहाँ पशुओं और धान्य को प्रथम स्थान दिया गया है और उसके बाद हिरण्य (चांदी-सोने) को। ऐसा करके आचार्य ने यह सूचित कर दिया है कि किसी भी देश की प्रधान सम्पत्ति पशु और धान्य है, क्योंकि उनसे जीवन की आवश्यकताएँ साक्षात् रूप से पूर्ण होती हैं। जो वस्तु जीवन की वास्तविक आवश्यकताओं की साक्षात् पूर्ति करती है, उसका उपार्जन करने वाला सामाजिक एवं राष्ट्रीय दृष्टि से समाज एवं राष्ट्र का उपकार करता है। वह जगत् को अपनी ओर से कुछ प्रदान करता है, अतएव वह जगत् का बोझ नहीं है वरन् बोझ उठाने वालों का हिस्सेदार है। वह समाज से कुछ लेता है तो उसके बदले समाज को कुछ देता भी है। अनाज पैदा करने वाला किसान दूसरों का भार नहीं है, बल्कि दूसरों का भार संभालता है। वह अनेक मनुष्यों को अन्न के रूप में जीवन दे रहा

है, क्योंकि पैदा किया हुआ सारा अनाज वह स्वयं नहीं खा लेता। यही बात पशु-पालन के संबंध में भी कही जा सकती है। मगर सूद का धंधा करने वाला पुरुष स्वार्थसाधन के सिवा और क्या करता है ? ऐड़ी से चोटी तक पसीना बहा कर किसान जो अन्न उपजाता है, उस पर सूदखोर का जीवन निर्भर है, फिर भी वह किसान को भरपेट नहीं खाने देता। समाज के विभिन्न वर्गों के लोगों के परिश्रम पर वह गुल-छर्रे उड़ाता है, मगर उनमें से किसी की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह कुछ भी आत्मदान नही करता। वह अगर कुछ करता है तो सिर्फ समाज में विषमता का विष ही फैलाता है। अतएव उसका कार्य जगत् के लिए कल्याणकारी न होकर अकल्याणकारी ही है।

व्यापार अगर सामाजिक भावना का विरोध न करते हुए, बल्कि समाजकल्याण की दृष्टि को साथ लेकर किया जाय तो वह भी उपयोगी और श्रावकधर्म से अविरुद्ध है, मगर ऐसा होता नहीं है। व्यापारीवर्ग व्यक्तिगत लाभ के लिए ही व्यापार करता है। यह बात इस युद्ध के समय में अत्यन्त स्पष्ट हो गई है। लोग भूखे मरे पर व्यापारियों का हृदय नहीं पसीजा। उन्होंने मुनाफे के लोभ में जनता के जीवन-मरण की चिन्ता नहीं की। कम-बढ़ रूप में सदा ही यह होता रहता है। लेकिन खेती में यह संभावना नहीं है। किसान अत्यधिक अनाज का, लम्बे समय तक संग्रह नहीं कर सकता।

व्यापार की अपेक्षा खेती की महत्ता इसलिए भी अधिक

है कि खेती मूल आजीविका है। मूल आजीविका वह कहलाती है, जिस पर अन्य अनेक आजीविकाएँ निर्भर हों। कपास, रुई, सूत, जूट, बुनाई, सिलाई, कपड़े के मिल, बजाजी का व्यवसाय, इस संबंध के तमाम आढ़त आदि के धंधे, तथा समस्त अनाज संबंधी व्यवसाय, हलवाई की दुकानें, होटल ढाबा आदि-आदि कृषिकर्म पर अवलंबित हैं। अगर किसान खेती करना छोड़ दे तो दुनिया के अधिकांश व्यापारी चौपट हो जाएँ। इस दृष्टि से व्यापार का मूल भी खेती ही ठहरता है। ऐसी स्थिति में विभिन्न आजीविकाओं के साथ तुलना करने पर कृषि की उत्कृष्टता सिद्ध होती है। निःसंदेह कृषि जीवन है और कृषक जीवनदाता है। लोग राजा महाराजाओं को अन्नदाता कहते हैं, मगर ईमानदारी से तो किसान ही अन्नदाता है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय।

जैनधर्म संबंधी आचारविषयक विभ्रम उत्पन्न होने के कारण पर एक निगाह डालना शायद अप्रासंगिक न होगा। मेरे विचार से आचारविषयक विभ्रम का प्रधान कारण यह है कि हम जैनधर्म को एकान्त निवृत्तिमय मान बैठे हैं। धर्मोपदेशक भी प्रायः इसी रूप में धर्म का स्वरूप प्रकट करते हैं। लेकिन एकान्त निवृत्ति क्या कहीं संभव है? निवृत्ति, प्रवृत्ति के बिना और प्रवृत्ति, निवृत्ति के बिना असंभव है। अक्सर लोग समझते हैं, अहिंसा निवृत्ति रूप है, लेकिन वास्तव में

अहिंसा में जो निवृत्ति है, वह अहिंसा का शरीर है और उसमें पाया जाने वाला प्रवृत्ति का भाव उसकी आत्मा है। किसी प्राणी को नहीं सताना अहिंसा का बाह्य रूप है और इस निवृत्ति के साथ सर्वप्राणियों में बन्धुभाव होना, विश्वप्रेम का अंकुर उगना, करुणाभाव से हृदय द्रवित होना, जगत् के सुख के लिए कर्त्तव्यपरायण होना आदि प्रवृत्ति अहिंसा का आन्तरिक रूप है। इसके बिना अहिंसा की भावना न उद्भूत हो सकती है, न जीवित रह सकती है।

जैसे पक्षी एक पंख से आकाश में विचरण नहीं कर सकता, उसी प्रकार एकान्त निवृत्ति या एकान्त प्रवृत्ति से आत्मा ऊर्ध्वगामी नहीं हो सकता। अतएव यह कहा जा सकता है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति, जैनाचार के दो पंख हैं। इन में से किसी भी एक के अभाव में अधःपतन ही संभव है। इसलिए शास्त्रों में कहा है:—

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तम्।

अर्थात्—अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति को ही चरित्र समझना चाहिए। प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय ही चरित्र का निर्माण करता है।

जब हमें जीवनयापन करना ही है तो एकान्त निवृत्ति से काम नहीं चल सकता। प्रवृत्ति कुछ करनी ही होगी। ऐसी स्थिति में किस कार्य में प्रवृत्ति करनी चाहिए और किससे निवृत्त होना चाहिए, यह प्रश्न अपने आप उत्पन्न हो जाता

है। इसका आंशिक समाधान ऊपर उद्धृत वाक्य से हो जाता है कि शुभ में प्रवृत्ति और अशुभ से निवृत्ति करनी चाहिए। लेकिन शुभ क्या है ? और अशुभ क्या है ? यह प्रश्न फिर भी बना रहता है। शुभ और अशुभ की व्याख्या कुछ-कुछ देश-काल की परिस्थिति पर निर्भर करती है, लेकिन उनकी सर्वदेश-कालव्यापी व्याख्या यही हो सकती है कि जिस कार्य से आत्मा का और जगत् का कल्याण हो वह शुभ है और जिससे व्यक्ति और समष्टि का अकल्याण हो वह अशुभ है। इसी दृष्टि से हमें जीवननिर्वाह के लिए कोई भी शुभ कार्य पसंद करना चाहिए। पहले जो विवेचन किया गया है उससे यह स्पष्ट है कि कृषिकर्म जीवन के लिए अत्युपयोगी है—व्यक्ति और समाज का जीवन उसी पर अवलंबित है। उससे किसी को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचती। अतएव जीवननिर्वाह का जहाँ तक प्रश्न है, कृषि विधेय कर्म है। सट्टे आदि की निवृत्ति से कृषि आदि शुभ कार्यों मे प्रवृत्ति ही फलित होती है। उत्तराध्यन सूत्र में बतलाया गया है कि धर्मात्मा पुरुष स्वर्ग में उत्पन्न होने के पश्चात् जब मनुष्ययोनि धारण करता है, तब उसे दस श्रेष्ठ वस्तुओं की प्राप्ति होती है। यथा—

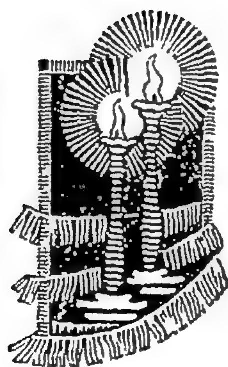
खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च, पसवो दास-पोरुसं।
चत्तारि कामखंधाणि, तत्थ से उववज्जइ॥

—उत्तरा ३ रा अध्याय।

यहाँ क्षेत्र (खेत) की प्राप्ति को प्रथम स्थान दिया गया

है। वास्तव में पुण्य के उदय से खेत मिलता है और खेत जोतने वाला जगत् की रक्षा करके पुण्य का भागी होता है।

हमारा खयाल है, पाठक इतने विवेचन से भलीभाँति समझ सकेंगे कि जीवननिर्वाह के कार्यों में कृषि का स्थान क्या है और वह धर्म से संगत है या विसंगत है?



२

कृषिकर्म अने जैनधर्म

——::::()::::——

जीवन अपने धर्मनो सम्बन्ध कोई विचारके उच्छेद्यो नथी. आदर्श जीवन जीववुं अटले धर्मने आचरणमां मुकवो. निश्रेयसनी प्राप्ति माटे आ जीवन मल्युं छे अने अनी द्वारा धर्म आचरीने मुक्ति साधी शकावानी छे. जीवनना अकेअक अंगमां पवित्रता रहेवी जोइए. धर्म अ मात्र जङ्गलमां जइने आचरवानी चीज नथी परन्तु समाजसेवा माटे—जनकल्याण माटे—छे. धर्मनो अर्थ केवल बाह्य क्रियाकांडनो नथी, परन्तु व्यापक छे. बाह्य अने आभ्यन्तर बन्ने प्रकारनी शुद्धि होय त्यारे ज धर्म आचरी शकाय. मनुस्मृति अने आ. हेमचन्द्रना योग-शास्त्रनी, धर्मनी व्याख्या जुओ—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्म स्तं निबोधत ॥

—मनुस्मृति, अ. २. श्लो. १.

दुर्गतिप्रपत्प्राणिधारणाद्धर्म उच्यते ।
संयमादिर्दशविधः सर्वज्ञोक्तो विमुक्तये ॥

—योगशास्त्र, प्र. २ श्लो ११.

प्रजानुं धारणपोषण थई शके अने जनसमूहने उत्पथे जतां अटकावे ते धर्म. संयमथी धर्म आचरणमां मुकाय. अने ए धर्म आचरे ते माणसज जीवनमुक्त दशामां रही शके. संसारमां थतां कर्मो अने बन्धनकर्ता थई पडता नथी. भारतीय संस्कृतिना उत्थानकालथी ते आज सुधी दार्शनिकोए धर्म अने जीवननो सनातन सम्बन्ध प्रस्थापित कर्यो ज छे. जीवनशुद्धि ए भारतीय विचारनुं तत्त्व छे.

बुद्ध अने महावीरनां उदाहरण ल्यो—बन्ने ए 'प्रायणात् सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते' ए कथन अनुसार संसारसुखोनो त्याग करीने संसारना जीवोने ओछामां ओछो क्लेश थाय एवुं जीवन गाळ्युं. एकनो सिद्धांत कहेतो हतो के संसारचक्रनुं मूल वासना छे, बीजानो सिद्धांत कहेतो हतो के कर्म ए जीवने बन्धनकर्ता छे, बन्ने मात्र सिद्धांत निरूपण करीने बेसी न रह्या. वासना अने कर्मनो नाश करवा माटे अथाग परिश्रम लीधो—जीवनसमर्पण कर्युं. जीवनना एक-एक अङ्गमां रागद्वेषनो नाश करवा प्रयत्न कर्यो. राजा पण आदर्शधर्म आचरी शके छे. एम एकना अनुयायी अशोके सिद्ध कर्युं, ज्यारे गृहस्थ पण आदर्श धर्म आचरी शके छे एम

बीजाना अनुयायी आनन्दे सिद्ध कर्युं.

मध्यकालीन संतो अने विचारकोना उदाहरण ल्यो. कबीर, तुकाराम, नरसैयो, आ गृहस्थीओ साधुओथी पण उच्चतर जीवन गालता हता. सत्य अने प्रेम अेमने जीवनना महामंत्र हतां. वणकर के भिक्षु बन्ने अेक सरखी रीते धर्म आचरी शके छे अेवी प्रतीति अेमना जीवन उपरथी थई शके छे. सत्य अने प्राणीमात्र प्रत्ये प्रेम अ भावना ज्यां होय अे जीवन धर्ममय थवानुं ज. पछी अे आचरनार भिक्षु होय के गृहस्थ होय के राजा होय. जीवनना अेके अङ्ग साथे धर्मने विरोध नथी. अत्यारना संतनो दाखलो ल्यो—महात्मा गांधीजीअे स्पष्ट दर्शाव्युं छे के राजकारण अे कुटिल चाललाजी नथी परन्तु अेमा पण सत्य अने अहिंसाने स्थान छे. जीवननुं जे अंग धर्मथी विमुख थतुं जाय छे ते अंते माणसने विनाश तरफ दोरी जाय छे. अेनो दाखलो छे आपणी आधुनिक राजनीति, आपणी आधुनिक संस्कृति प्रगतिनी भावनाछेल्ला, सैकाथी अेवी मान्यता प्रवर्त्ती रही छे के धर्म अे कोई कपोलकल्पित वस्तु छे अज्ञान अने अभाण लोको ज अेने माने छे, नीतिना बंधन जेवी कोई चीज़ छे ज नहि, राजकारणमा तो जे बीजाने छेतरी सके तेज कुशल आपणे आज अेवी संस्कृतिनी कल्पना करी रह्या छीअे के जेमा माणसने सदाय इन्द्रियसुख मले अने आज मान्यताओ आज समस्त विश्वने विनाशना पंथे घसडी रही छे. शांतिपर्व-महाभारत मां, ययाति राजा सुख-भोगवीने निराश थइ कहे छे—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते, नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥

मानवजीवनना मुख्य पुरुषार्थ लो–धर्म, अर्थ अने काम, पुरुषार्थ विना जेम आ लोकमां सिद्धि थती नथी, तेमज पुरुपार्थ विना मोक्ष मली शकतो नथी. परन्तु अे पण ध्यानमां राखवानुं छे के अेकला अर्थनी पाछलज प्रयत्न करनार माणस के अेकला कामनी पाछल प्रयत्न करनार माणस विपथे पड़े छे. अर्थ अने काम जो धर्मथी संकलित होय तोज विषय कषाय रहित जीवन गाली शकाय छे. सोमप्रभ सूरि कहे छे—

त्रिवर्गसंसाधनमन्तरेण, पशोरिवायुर्विफलं नरस्य ।
तत्रापि धर्मं प्रवरं वदन्ति, न तं विना यद् भवतोऽर्थकामौ ॥

—सिन्दूरप्रकर

धर्म अने कर्म वच्चे मूलगत विरोध नथी. कर्म आचरंनार जो धर्ममय होय तो कर्म आचरवामां विरोध नथी. अे कर्म राग, द्वेष मोहथी न थवुं जोइए पण लोकसंग्रहार्थे थवुं जोइए. गीतानो स्थितप्रज्ञ के जैन साधु अे राग मोह इत्यादिथी रंगाअेलो न होय. अने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य अपरिग्रह ने अनुसरतो होय तो लोकसंग्रहार्थ करेलां कर्म वन्धनकर्ता नथी थतां. जे माणसने जे कर्म अनुरूप होय ते तेणे कर्येज छुटको. अने तेमांज तेनुं अने जनसमाजनुं कल्याण समाअेलुं छे. जो धर्म जशे, तो मानवसंस्कृतिनो पायो खलभली उठशे. अने पशुजीवन अने मनुष्यजीवनमां कंई भेद नहीं

रहे. व्यास मुनि भारत सावित्रिमां वधाने उद्देशी ने कहे छे के—

न जातु कामान्न भयान्न लोभात ,
धर्मं त्यजेत जीवितस्यापि हेतोः ।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये,
जीवो नित्यः हेतुरस्य त्वनित्यः ॥

अने इन्द्रियनिग्रह करीने कर्म आचरवु जोइये. विदुरनीति कहे छे—

त्रिविधं नरकस्येद द्वारं······ ··· ···········।
कामः क्रोधश्च लोभश्च, तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत ॥

अने शास्त्रोनो उद्देश पण अेज छे. धर्ममय जीवन केम गालवुं, निःश्रेयसने मार्गे आवतां विघ्नोमांथी केम बचवुं, अने जनसमाजनुं हित केम वधारवुं अेज शास्त्रोना उद्देश छे. आधुनिक समयमां जे शास्त्रो अत्यारना समाजने हितकर्ता-अत्यारना समाजने मार्ग सूचक थई पडशे तेज जीवी शकशे. जीवनथी विरुद्ध धर्म उपदेशतां शास्त्रो, शास्त्रो रहेशेज नहिं. हमेश वदलातां विचारोमां सनातन सत्यनो पडघो, दरेक क्षणे वदलाता मानवजीवननी समक्ष नित्य रहे तो धार्मिक विचार अेज शास्त्रोपदेश छे. आपणे अेमांथी घणुं मेलववानुं छे, अने घणुंज आचरवानुं छे. श्रीअरविन्द घोष गीता विशे लखतां कहे छे—जे वधाज शास्त्रोना अभ्यासने लागु पडी शके-

"But what we can do with profit is to seek in the Gita for the actual living truks it contains,

apart from it. Their one taphysical from to extract from it what can help us or the world at large and to put it in the most natural and rital from and expression we can find that will be suitable to the mentality and helpful to the spiritual needs of our present-day humanity .... And that is after all what Scriptures were written to give, the rest is academical disputation or theological dogma Only those Scriptures, relived philosophies which can be thus constantly renewed, relived their stuff of permanent truth constantly reshaped and developed in the inner thought and spiritual experience of a developing humanity, continue to be of living importance to mankind.

(Essays on Gita I)

अने आपणे आपणा शास्त्रोने अ नवी दृष्टिथी जोवानां छे. अत्यारना समाजनी जरूरियातो, अत्यारनी सामाजिक परिस्थितिने अनुलक्षी आपणे आपणा कर्मोनो विचार करवानो छे. आपणी सामे हमेशा आपणा शास्त्रोनो आदर्श रहेशे अने शोधक अने साधकनी नवी दृष्टिथी आपणे आपणा जीवननो अभिप्रेत मार्ग शोधवानो छे.

धर्ममय जीवन माटे आपणी अत्यारनी प्रवृत्ति अने धर्मनो

સંબન્ધ જાણવો આવશ્યક છે અધ્યયન, વ્યાપાર, કૃષિ ઇત્યાદિ જીવનનાં અગત્યનાં કર્મો સાથે ધર્મનો સંબન્ધ જાણવો એ અત્યારના શોધક આગલ મોટી સમસ્યા છે. ધર્મના સિદ્ધાંતો પુસ્તકમાં રહેવા સર્જાયાં નથી પણ આચારમાં મુકવા સર્જાયા છે. એ લક્ષ્યમાં રાખીને આપણે ધાર્મિક જીવનની શરુઆત કરવાની છે. જીવનનાં વિવિધ ક્ષેત્રોને ધર્મ સાથે શું સંબન્ધ છે એ વધાની ચર્ચાનો અત્ર અવકાશ નથી—માત્ર કૃષિ અને જૈન-ધર્મ-કૃષિ ને અને જૈનધર્મ ને શો સંબન્ધ છે તેની પરીક્ષા કરવાની છે.

જૈનધર્મ અને ખેતીને શો સંબન્ધ છે તે જાણવાં માટે જૈન-ધર્મના ઉદ્‌ગમની પરિસ્થિતિની ટૂંકી આલોચના આવશ્યક છે.

ઐતિહાસિક પ્રમાણો નજર સમક્ષ રાખીએ તો જૈનધર્મના મૂલ ઉંડા માલૂમ પડે છે. ઈ. સ. પૂર્વ ૭૫૦. એ એની ઐતિહાસિક મર્યાદા. વિચારોની ક્રાંતિના કાલમાં જૈનધર્મનો ઉદય થયેલો. લોકોને શંકા થવા લાગી કે આ યજ્ઞજાલ, આ પશુ-વધ અને ચર્ચાઓ શું કદીય મોક્ષપ્રાપ્તિનું સાધન થશે ખરી ? આ શંકા ધીરે ધીરે મૂર્ત્ત સ્વરૂપ પકડતી ગઈ અને એના જવાબ રૂપે જે વિચારકો ઉભા થયા તે જૈન વિચારકો હતા. ૨૩ માં તીર્થંકર પર્શ્વનાથ ઈ૦ સ૦ પૂ૦ ૭૫૦–ઐતિહાસિક વ્યક્તિ તરીકે સિદ્ધ થયા છે (જેનું માન H. jacobi ને ઘટે છે) પણ એનો અર્થ એમ નથી કે ઇ૦ સ૦ પૂ૦ ૭૫૦ માં જૈનધર્મ એકાએક અસ્તિ-ત્વમાં આવી ગયો. કોઈ પણ વિચારની શાખા અને ધર્મની

मान्यता अेकाअेक धर्म रूपे प्रगट नथी थती. सैकाओ सुधी लोकमानसना विचारो जुदां जुदां स्वरूप पकडे छे, अने धीरे धीरे अेक वखत अेवो आवे छे के ज्यारे अे विचारो संकलित अने संबद्ध थईने एक स्थाई विचारशाखा अने धर्म रूपे नियत थाय छे. अेटले जैनधर्मना मूल तो इ० स० पू० ७५० थी पण उंडा होवा जोइये. यज्ञो जेम जेम बाह्य आचारने अगत्य आपवा लाग्या, अने आंतरिक शुद्धि जेम जेम नाबूद थती गई तेम अेक लोकमत अेवो उभो थयो होवो जोइये के बाह्य कर्मकांड निःश्रेयस् तरफ नथी लई जता. यज्ञोमां सैंकडो बलदो, बकरां, गायोनो वध कोईनी नीति भावनाने जरुर स्पर्श्यो हशे, अने त्यांज जैनधर्मनां मूल छे—हिंसाना प्रखर विरोध रूपे अे स्थपायो हशे. यज्ञनी अने यज्ञ बहारनी अनेकविध हिंसा सामे लोको जरुर विचार करता थई गया हशे. आम जैनधर्म लोकमतना अेक प्रवाह तरिके उभो थयो हतो; अने हिंदु जीवन तथा शास्त्रो ऊपर तेनी ऊंडी असर पडी होवी जोइये आने माटे Dr. F. otto schrader. ना अेक लेखमांथी नीचेनुं विस्तृत अवतरण आवश्यक छे—

"अहिंसानो आवो उत्कट मार्ग अनुक्रम वगर अेकदम उत्पन्न थाय अे भाग्येज मानी शकाय तेवुं छे; तेथी तेमज महावीर अने पार्श्वनाथ पण आमांना घणा नियमो ऊपर भार मूकता हता तेथी; आपणे अेवी अेक कल्पना तरफ दोराईए छीए के बुद्धनी पूर्वे बे शतक के तेथी पण पहेलां (अेटले

क्राइस्ट नी पूर्वे ८०० वर्ष पहेलां) हाल जेने अहिंसानुं अणु-व्रत कहेवामां आवे छे तेना जेवा अेक मंतव्यनी प्रथम स्थापना जैनो अथवा कोई अन्य धर्मानुयायीओ तरफथी करवामां आवी हशे. आ कल्पनाथी आपणे वैदिक युगनी समाप्ति सुधी पाछल जईअे छीअे-अने अहिं छान्दोग्य उपनिषद्‌ना अंतिम भागमां आपणे इच्छेलुं अहिंसा व्रतनुं प्रथम पगथीयुं आपणने मली आवे छे—जो के देखीती रीते ते मूलनी शरूआतनुं तो नथी ज. छान्दोग्य उपनिषद्‌नो ते भाग नीचे प्रमाणे छे—"आचार्यना घेर यथाविहित समयमां, यथाविधि, वेदनो अभ्यास करी ने जे गुरुना घेरथी पाछो आवे छे, तेणे पोतानी मेले पोताने घरे पवित्र स्थानमां ते पवित्र ग्रंथनो अभ्यास करवो; सत्यशील विद्यार्थीओने भणाववा; पोतानी सकल शक्तिओनुं स्थान ते आत्माने बनाववो; पवित्र तीर्थो सिवाय अन्यत्र कोई पण प्राणीनी हिंसा करवी नहिं; ते खरे-खर आ प्रमाणे यावज्जीवन रही ब्रह्मलोक मेळवे छे, अने पुनः आवतो नथी; पुनः आवतो नथी." अेनो अर्थ अे के—जे मोक्षनी आकांक्षा राखे छे ते यज्ञ सिवाय अन्य पशुवध करी शके नहिं. अहिं ध्यानमां राखवुं जोइए के अहिं गृहस्थने उद्दे-शीने आ अहिंसाना नियमनुं वर्णन थाय छे.

"परन्तु त्यार पछीना उपनिषदोमां चतुर्थाश्रम पूर्ण विकास पामेलो जोवामां आवे छे. अने तेने माटे आपेला नीयमो जैन यतिना नियमो ने केटलेक अंशे मलता आवे छे. जैनयतिनी

जेम ब्राह्मण संन्यासी ने पण वर्षा ऋतुमां फरवानु बंध राखवुं पड़े छे, अने पाणी पीधा पहेलां गालवुं पड़े छे, अने स्पष्ट-पणेज—जो के चौक्कस नथी छतां—ते मांसाहार करी शकतो नहिं. गमे तेम हो पण आटलुं तो चौक्कस छे के ब्राह्मण धर्म-मां पण घणा लांबा समय पछी आ सूक्ष्म अहिंसा विहित थई, अने आखरे वनस्पति आहारना रूपमां ब्राह्मण जातिमां पण ते दाखल थई हती. कारण ए छे के जैनोना धर्मतत्वोए जे लोकमत जीत्यो हतो तेनी असर सज्जड रीते वधती जती हती .... अने आखरे दक्षिण हिन्दुस्तानमां ई. स. ना-तेरमा सैकामां उत्पन्न थयेला माधव संप्रदायना केटलाक प्रति-निधिओए अन्तिम पगलुं लीधुं. तेमणे गमे ते प्रकारनी प्राणी हिंसा ने पापवाली गणी ने धिक्कारी अने यज्ञमां प्राणी बलि-दान ने स्थाने कहेवातो—पिष्ट-पशु, एटले अन्ननी बनावेली प्राणीनी आकृति वापरवानो रिवाज दाखल कर्यो."

जैनधर्म प्राचीन धर्म छे, अने एनुं उत्थान हिंसाना अने व्यर्थ कर्मकांडना विरोधमां थयुं हतुं ए हवे स्पष्ट छे. जीवन-ना प्रत्येक क्षेत्रमां अहिंसानुं आचरण ए जैनधर्मनो हिन्दु-संस्कृतिमां फालो

जैनदृष्टिए अहिंसा एटले मानसिक तेमज कायिक, अहिंसा. मानसिक अहिंसाना फलरूपे जैन तत्वज्ञानमां स्याद्वाद-नो प्रवेश थयो. दरेक वस्तुने जुदी जुदी रीते जोवानी टेव पाडवी अने परमतनो एकदम विरोध न करवो—ए छे

स्याद्वाद. दरेक वस्तुने जुदी जुदी बाजुओ होय छे. जेने अंग्रेजी-मां Religious Tolerance कहेवाय. ते आ स्याद्वादमां प्ररुपित थयेल छे. अहिंसानुं अगत्यनुं अंग तो Tolerance ज छे. जुदा जुदा विचारको लडे अने परस्पर खंडनो करे तेना करतां स्याद्वादनी दृष्टिथी जुओ तो केटलाय मतभेदोनो सहेलाईथी नीकाल आवी जाय. अेक दृष्टिथी जोईये तो अेक चीज़ अेक प्रकारनी लागे. अने बीजी दृष्टिथी जोईये तो अेज चीज़ अन्य प्रकारनी लागे. अेना सात भङ्ग—स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति नास्ति, स्यादवक्तव्यम्, स्यादस्तिअवक्तव्यम्, स्यान्नास्ति अवक्तव्यम्, स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्यम्—विचारनी सहिष्णुता बतावे छे. वस्तुत्व अनेकान्तात्मक छे अने जुदी जुदी दृष्टिथी जोईने वस्तुतत्वनो निर्णय थई शके. स्याद्वाद अे अज्ञेयवाद के नास्तिकवादनी मान्यता नथी. कै० बा० डा० ध्रुव कहे छे—

"It (स्याद्वाद) is this a doctrine of Relativity Truth of fluid as opposed to rigid truth, and should be confounded with any form of Scepticism or agnosticism, ancient or modern"

अने C. E. M. Joad लखे छे—

"Philosophy consists, in fact, of continyal pod-ing and sifting of conception, of philosophers. The more diverse the conception, the richer the mate-rial to be sifted None is to be rejected, because

while none is true, none is wholly false."

हवे जैनग्रन्थोमां बतावेलुं अहिंसानुं स्वरूप जोईए. जैनधर्म मुख्यत्वे तपप्रधान आचारधर्म छे. इन्द्रियनिग्रह अने कषायो ऊपरनो विजय ए एनो सूर छे. एटले आचारमां खास कठिनता होय ए स्वाभाविक छे. अहिंसाने आचारमां मूकवानो मुख्य प्रयत्न करनार जैनो, एटले आचारमां एमणे अहिंसानो मुख्य उपदेश कर्योज होय अहिंसानुं आचरण करनारे जीव अने अजीव चीजोनी आलोचना पण करवीज पडे एटले जीवाजीवविचारनी समजण पण जैन दर्शनमां भारी जग्या रोके छे.

जैन श्रमणने पांच महाव्रत लेवानां होय छे, तेमां प्राणातिपातविरमण प्रथम आवे छे, एटले के अहिंसाने प्रथम स्थान मले छे. आचारांग सूत्र कहे छे केः—

से बेमिः—जे य अईया जे य पडुप्पन्ना जे य आगमिस्सा अरहन्ता भगवन्तो, सव्वे ते एवमाइक्खन्ति एवं पन्नवेंति एवं परूवेंतिः—सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता न हन्तव्वा न अज्जावेयव्वा न परिघेत्तव्वा न परियावेयव्वा न उद्दवेयव्वा ।

आचारांग० अ–१–४–१ ।

तुमं सि नाम त चेव जं 'हन्तव्वं' ति मन्नसि ।

तुमं सि नाम तं चेव जं 'अज्जावेयव्वं' ति मन्नसि,

'परिभावेयव्वं' .... परिघेतव्वं'

उद्दवेयव्वं' . ...'अज्जू चेयपडिवुद्धजीवी'

तम्हा न हन्ता नवि घायए ।

आचारांग—१-१-४ ।

अने आ अहिंसानो आचार साधुए पालवानो छे. स्थूल अने सूक्ष्म बन्ने प्रकारनी अहिंसा आचरवानी आदर्श स्थिति अहिं वर्णवेली छे. छ जातनां जीवोनुं वर्णन दशवैकालिक सूत्रना चौथा उद्देशकमां करेलुं छे. अने प्राणातिपातविरमण व्रत श्रमणने लेवानुं होय छे—

पढमे भन्ते महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं । सव्वं भन्ते पाणाइवायं पच्चक्खामि, से सुहुमं वा बायरं वा तसं वा थावरं वा नेव सयं पाणे अइवाएज्जा, नेवन्नेहिं पाणे अइवायावेज्जा, पाणे अइवायंते पि अन्ने न समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए कायेणं न करेमि न कारवेमि करेन्तं पि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भन्ते पडिक्कमामि निन्दामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि । पढमे भन्ते महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं ।

आ छे श्रमणनी आदर्श अहिंसानुं व्रत. आ अहिंसानुं स्वरूप आचरणमां मूकवानुं कठण लागे, परन्तु आदर्श अहिंसा तरिके तो आ व्रतज होई शके.

हवे खेती ए आ अहिंसामां आवे के केम ? ए मुख्य प्रश्न उपस्थित थाय छे. एम कहेवामां आवे छे के खेती करती

વખતે ધરતી ફોડવી પડે અને કેટલાક જીવોનો વિનાશ થાય તો પછી અહિંસા વ્રતધારીને ખેતી કરવી ઇષ્ટ કે નહિં? તેની શાસ્ત્રીય આલોચના માટે હું નીચેના મુદ્દા રજુ કરીશ.

જૈનધર્મમાં સૂક્ષ્મમાં સૂક્ષ્મ જીવની પ્રાણહાનિ ન થાય એ વિશે ખૂબ વિવેચન કરવામાં આવ્યું છે; એટલે સ્વાભાવિક રીતેજ, જેમાં અસંખ્ય જીવો હણાય છે—એવી ખેતીને હિંસક પ્રવૃત્તિ તો ગણવામાં આવેજ. માત્ર જૈન વિચારકોએ નહિં, પરન્તુ બ્રાહ્મણ વિચારકોએ પણ ખેતી હિંસકપ્રવૃત્તિ હોવાથી બ્રાહ્મણો માટે ત્યાજ્ય ગણી હતી–મનુ લખે છે—

वैश्यवृत्यापि जीवंस्तु, ब्राह्मणः क्षत्रियोऽपि वा ।
हिंसाप्रायां पराधीनां, कृषि यत्नेन वर्जयेत् ।। ८२ अ.१०
कृषिं साध्विति मन्यन्ते, सा वृत्तिः सद्विगर्हिता ।
भूमिं भूमिशयांश्चैव, हन्ति काष्ठमयोमुखम् ।। ८४ अ.१०

એટલે મનુસ્મૃતિ ને પણ કહેવું પડે છે કે અયોમુખ કાષ્ઠ–હલ–ભૂમિ ઉપર અને અન્દર રહેલા જીવોના નાશ કરે છે માટે કૃષિ ત્યજવી.

આથી એમ માલુમ પડે છે કે ખેતીમાં સમ્પૂર્ણ અહિંસા સચવાતી ન હોવાથી માત્ર જૈન વિચારકોએજ નહિં પરન્તુ બ્રાહ્મણ વિચારકોએ પણ એનો વિરોધ કર્યો હતો. હવે ખેતી–માં થતી હિંસા બાધક છે કે કેમ તેની વિશેષ ચર્ચા માટે તત્ત્વાર્થ-સૂત્રની હિંસાની વ્યાખ્યા લ્યો—

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा । अ. ६, सू ८ ।

प्रमत्त योगथी थतो प्राण वध ते हिंसा. ज्यारे रागद्वेष-वाली असावधान प्रवृत्तिथी प्राणवध करवामां आवे त्यारे ते हिंसा गणाय. प्रमत्त योग अने प्राणवध अे कारणो जरा चर्चा मागी ले छे—

जैनोअे हिंसा-अहिंसानो विचार स्थूलदृष्टिअेज कर्यो नथी. अहिंसाना विचारको छेक उंडाण सुधी पहोंची गया अने हिंसानुं बीज स्थूल कार्यमां नहिं पण माणसमां रहेली अशुभ वासनाओमां जोयुं. ज्यारे प्रमत्तयोग जनित प्राणवध थाय त्यारे ज हिंसा—जे सर्वथा वर्ज्य छे—थाय. हिंसा करनारना मनमां जेनी हिंसा करवी होय तेने हणवानी, तेना तरफ राग, द्वेषनी भावना होय, अने अेने वश थई ने जो अे प्राण-वध आचरे तो जरूर अे हिंसा थई गणाय अने अे हिंसा वर्ज्य छे. आथी अेक प्रश्न सहेजे उठे छे के अनिवार्य थती प्राणहानि ने हिंसा कहेवी के नहिं? अलबत्त अनिवार्य होवा-थी अे अहिंसा सम्पूर्ण रीते हिंसा मटती नथी, परन्तु अे हिंसा बाधक नथी. बीजी बाजु जोइये—एक माणसे बीजा ऊपर हुमला कर्यो-रागद्वेषना वश थई ने तेनुं खून करवाना ईरादा थी (जेने कायदानी भाषामां मेन्सरीआ-Mensrea कहे छे) पण तेनुं खून न थई शक्युं छतां अे प्राणवध नी कोटिनी हिंसाज थई. कारण के अे प्रमत्तजनित हती. प्रमत्तयोग वगरनी हिंसाने द्रव्य हिंसा कहेवामां आवे छे, अने अेनो अर्थ अे छे के तेनु दोषपणुं अबाधित नथी. अेथी उलटुं, प्रमत्त-योग जनित हिंसाने भावहिंसा कहेवामां आवे छे, जेनुं दोष-

पणुं स्वाधीन होवाथी त्रणे कालमां अबाधित रहे छे," (तत्वार्थसूत्र-पंडित सुखलालजी) अप्रमादी माणस सम्पूर्ण सावधान पणे विचरतो होय, हालतां, चालतां बोलतां जे जीव मरे छे, ते हिंसा छे परन्तु बाधित नथी ज, अने एथी उलटुं प्रमादी माणस जे प्रवृत्ति आचरे छे तेमां प्रमत्तयोग थाय ज अने हिंसा बाधक छे ज.

खरी हिंसा तो संकल्पथी करेली हिंसा छे. जैनधर्ममां एनां घणा उदाहरणो पण छे, खाटकी कालसौकरिक नो प्रख्यात दाखलो ल्यो-एणे खरेखर जीवतां पाडाओने कुवामां हण्या न हतां, छतां, एनी दुष्ट भावना एज एना कर्मने हिंसक स्वरूप आपवा बस हती. बीजुं उदाहरण—

मन एव मनुष्याणां, कारणं बन्धमोक्षयोः ।
क्षणेन नरकं याति, जीवस्तण्डुलमत्स्यवत् ॥

एक मोटुं मत्स्य हतुं, अने एनी आंखनी कीकीमां एक बीजुं नानुं मत्स्य हतुं, पेला मोटा मत्स्यना सदाय खुल्ला रहेता मुखमां केटलाय जीवो आवता अने चाल्या जता, परन्तु ए मत्स्य ए जीवोने खातुं नहिं, पेलुं नानुं मत्स्य विचार करतुं के जो हुं मोटुं मत्स्य होत तो बधा जीवोने खाई जात, आ दुष्ट संकल्प करवाथी ज ए नरके गयुं.

एटले संकल्प करीने जे हिंसा आचरवामां आवी होय ते हिंसा दूषित छे, जे माणस सावधानीथी वर्तती होय बेठवा उठवामां ईर्यासमितिनुं सम्पूर्ण पालन करतो होय छतांय जो

जीवहानि न रोकी शके तो ओ हिंसा अने जरा पण बाधक थई पड़ती नथी.

आ. हेमचन्द्र योगशास्त्रमां जणावे छे के—

एवं विशेपयोग वतश्च गच्छतो मुनेः कथंचित् प्राणीवधे ऽपि प्राणयंवधपापं न भवति ।

यदाह—

उच्चालियम्मि पाए इरियासमियस्स सङ्कमट्ठाए ।
वावज्जेज कुलिङ्गी मरिज्ज तं जोगमासज्ज ॥
न य तस्स तन्निमित्तो बधो सुहुमो वि देसिओ समए ।
अणवज्जो उपओगे सव्वभावेण सो जम्हा ॥
तथा
जियदु व मरदु व जीवो अजदाचारस्स निच्छओ हिंसा ।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामित्ते ण समिदस्स ॥ प्र-१ श्लो.३६।

आथी स्पष्ट मालूम पड़े छे के हिंसा करवानी भावना अेज हिंसा छे. शुद्ध भावनाथी सावधान रही ने आचरेला कर्ममां कोई जीवहानि थाय ते जरा पण बाधित नथी.

हवे खेती तरफ जोईये. खेडूत ज्यारे खेती करवा माटे सवारे हल जोडे छे त्यारे अेना मनमां शी भावना होय छे? अेना मनमां शुं अेवी भावना होय छे के आजे हल जोडीने जमीनमां रहेला सैंकडो जीवोनो संहार करूँ? वा अेवी भावना होय छे के हुं आजे आ हलथी जमीन खेडीने अनाज पकवुं? जो जीव हणवानी इच्छा होय तो जरूर खेती वर्ज्य

हिंसानी कोटिमां आवी जाय छे. पण जो अेनी इच्छा-भावना अनाज पकवानी होय जे प्रजाना धारण पोषण माटे होई अनिवार्य छे- तो खेतीमां थती हिंसा बाधक नथीज. जेम चालवामां, बोलवामां, श्वास लेवामां, हिंसा थाय छे अने तेने आपणे रोकी शकता नथी, तेमज खेती अनिवार्य होवाथी अेने आपणे रोकी शकीअेज नहिं.

ऊपर जणावेली हिंसानी व्याख्याथी अेटलुं तो जरूर फलित थाय छे के खेती अे वर्ज्य अेवी मोटी हिंसा नथी.

खेतीनो विरोध जैन अने ब्राह्मण विचारकोअे कर्यो, पण ते तो आदर्श अहिंसा ने माटे छे. जे माणसे संसार त्याग्यो होय, अन्न अने पाणी पण खूबज परिमित लेतो होय, अने जेने माटे जीवन अे अेक समस्त त्यागज बनी गयुं होय अेने माटे खेती वर्ज्य होई शके, जनसमुदाय माटे नहिं.

खेती आदर्श अहिंसक माटे निषिद्ध छे, परन्तु गृहस्थनी मर्यादनी बहार नथी. जैनधर्म आचारप्रधान छे; अने आचार-नी बे मुख्य कोटि पाडी नाखी छे—श्रमणनो आचार, अने श्रावकनो आचार. श्रमणनो आचार खूब कडक होय छे, खूब संयम जालववानो होय छे—जेम ब्राह्मणधर्ममां चार वर्णो पैकी ब्राह्मणने खूब संयम जालववानो होय छे-जेटलो आदर्श होय अे बधो कंई श्रावकथी आचरी शकातो नथी, बल्के खूबज ओछो आचरी शकाय छे. श्रमण, श्रावकथी वधारे अहिंसा पाली शके, कारण के अेनो त्याग मोटो छे;

अने जेम त्याग वधारे तेम अहिंसाचरण वधारे. माटे श्रमणनी मर्यादामां खेती वर्ज्य होई शके, परन्तु गृहस्थ माटे-श्रावक माटे—खेती निषिद्ध नथी ज. अेनां बीजां प्रमाणो तपासतां पहेलां अे जोई लईए के साधुनी अहिंसा अने गृहस्थनी अहिंसानी मर्यादामां केटलो फर्क होई शके ? आनुं विवरण 'श्री सम्यकूत्व मूलबारव्रतनीटीप' मां छे, तेनुं अवतरण नीचे आपुं छुं—

"साधुने वीश विश्वानी दया छे अने गृहस्थ ने सवा-विश्वानी दया छे. ते केवी रीते छे, तेनो विवरो लखीअे छीअे. जगतमां जीवना बे भेद कह्या छे. अेक थावर बीजा त्रस, तेमां थावरना वली सूक्ष्म, बादर अे बे भेद छे, तेमां पण सूक्ष्मनी हिंसा नथी, कारण अति सूक्ष्म जीवना शरीरने बाह्य शस्त्रनो घाव लागतो नथी, तेमने स्वकाय अेटले पोतानी जातीना जीवोथी घात छे. पण बादर नथी-अेमाटे अहींया सूक्ष्म शब्द थी पण जाणवुं के थावर जीव पृथ्वी, पाणी, अग्नि, वायु, वनस्पतिरूप बादर अे पांचे थावर तेमने सूक्ष्म कहीअे अने थूल अेटले बेंद्रि, त्रेंद्रि, चौरेंद्रि पंचेन्द्रि रूप जाणवा अे जीवना मूल भेद बे छे. तेमां सर्व जीव आव्या, तेओ सर्वनी त्रिकरण शुद्ध साधु रक्षा करे छे. ते माटे वीश विश्वानी दया मुनिने छे.

पण श्रावकथी तो पांच थावरनी दया पाली शकाय नहिं. सचित्त आहारादि कारणथी अवश्य हिंसा थाय छे. माटे दश

विश्वा गया अने दश रह्या. अटले अेक त्रस जीवनी दया राखवाना दश विश्वा रह्या तेना पण वली बे भेद छे. अेक संकल्प अने बीजो आरंभ. तेमां आरंभ करीने जे त्रस जीवनी हिंसा थई जाय ते छोडी न जाय ते माटे बे विसामां अेक संकल्प हिंसानो त्याग अने आरंभ हिंसानी तो जयणा छे, अेम गणता फरी दशमांथी अडधा गया अेटले पांच विश्वा रह्या, अेटले संकल्प करी त्रस जीव न हणुं. अेमां पण जीवना बे भेद छे. अेक सापराधी जीव अने बीजा निरपराधी जीव छे. तेमां जे निरपराधी जीव छे तेमने न हणुं. अने सापराध जीव ने हणवानी तो जयणा छे. अेथी करी सापराधीनी दया श्रावकथी सदा सर्व रीते पले नहीं ....

अे माटे अपराधी नो संकल्प पण न छूटे. त्यारे बाकी रहेला पांच विश्वामांथी पण अडधा गया, बाकी अढी विश्वा रह्या, अेटले संकल्पीने "निरपराधी जीवने न मारुँ" अेटलुंज फकत रह्युं अेमां पण वली बे भेद छे. अेक सापेक्ष अने बीजा निर-पेक्ष. तेमां सापेक्ष निरपराधी जीवनी दया श्रावकथी पले नहीं; तेनुं कारण शुं ते कहे छे. श्रावक पोते घोडा, गाडी, बलद, रथमां, गाडीमां के इत्यादि बीजा ऊँट वाहनो पर बेसे छे. त्यारे घोडा प्रमुख बलद वगेरे ने चाबका के आर लगावे छे. पण विचारतो नथी के बलदे शो अपराध कर्यो छे अेमनी पीठ उपर तो चढी बेठो छे. अे जीवना शरीर सामर्थ्यनी तो कई खबर छे नहीं, जे आ जीव बलवान छे के दुर्बल छे. पोते उपर वली चढी बेठो छे. ने तेने गाल प्रमुख दई ने मारे छे !

પણ એ તો નિરઅપરાધી જ છે. વલી આપણા અંગમાં તથા આપણા પુત્ર પુત્રી, નાની ગોત્રી આદિકના મસ્તકમાં અથવા કાનમાં કીડા પડ્યા છે. અથવા આપણા જ મોઢામાં કે દાંતમાં કે દાઢમાં કે જડબામાં કીડા પડ્યા છે, તે વારે તેમને માર-વાના ઉપાયે કરીને કીડાની જગ્યાએ ઓષધ લગાડવું પડે, પણ એ જીવોએ શો અપરાધ કર્યો છે? એ તો પોતાની યોનિ-ઉત્પત્તિસ્થાન પામીને કર્મને આધીન આવીને અહીંયા ઊપજે છે—તો એ અપરાધી નથી. તે કારણ માટે નિરપરાધી જીવની પણ હિંસા, કારણે કરીને શ્રાવકથી તજી જાય નહીં ....

તે માટે અઢી વિશ્વા માંથી અઢ્ઢો ગયો ત્યારે સવા વશાની દયા રહી. એટલી સવા વશાની દયા શુદ્ધ શ્રાવકને છે. એટલે 'ત્રસ જીવ સંકલ્પીને નિરપરાધને કારણ વિના હણું નહીં' એવી પ્રતિજ્ઞા થઈ એ પ્રતિજ્ઞા જ્યારે શુદ્ધ રહે ત્યારે તે શ્રાવક વ્રતી કહવાય.

(શ્રી સમ્યક્ત્વ મૂલ બાર વ્રતની ટીપ ૨૪-૨૬)

શુદ્ધ શ્રાવકને પણ માત્ર સવા વશ્વાની દયા છે એ ઉપરથી સાધુ અને ગૃહસ્થના નિયમનમાં કેટલો ફેર છે તે માલૂમ પડી શકે છે. ખેતી સાધુને નિષિદ્ધ હોઈ શકે પણ ગૃહસ્થની મર્યાદાની અંદર ખેતી આવી જાય છે, અને તેનાં પ્રમાણો હવે તપાસવાનાં રહે છે.

શ્રાવકોનાં જીવન વર્ણવતું ઉપાસકદશાસૂત્ર તપાસીએ ઉપાસકદશામાં આવતાં કથાનકો બધાં-એક બે અપવાદવાદ

करतां–समान छे श्रावकोनी रहेणी कया प्रकारनी हती ते अेमनां जीवनमांथी स्पष्ट थई शके छे.

वधा श्रावको कृषि प्रधान वेपारीओ हता. अेमना वर्णन ऊपरथी अे हकीकत स्पष्ट थाय छे जुओ आनन्द श्रावकनुं वर्णन—

तस्स णं आणन्दस्स गाहावइस्स चत्तारि हिरण्णकोडीओ निहाणपउत्ताओ चत्तारि हिरण्णकोडीओ वुड्ढिपउत्ताओ, चत्तारि हिरण्णकोडीओ पवित्थरपउत्ताओ चत्तारि वया दस गोसाहस्सिएणं वएणं होत्था।

आवुं वर्णन तो अेनुंज होई शके के जेने घेर मोटो वेपार अने खेती चालतां होय.

वधाने घेर खेती हती जुओ आनन्द श्रावकनुं अध्ययन. आनन्द श्रावक इच्छाविधिपरिमाण करे छे त्यारे—

तयाणंतरं च णं खेत्तवत्थुविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ पञ्चहिं हलसएहिं नियत्तण–सइएणं हलेणं, अवसेसं सव्वं खेत्तवत्थुविहिं पच्चक्खामि।

हवे, जे माणस खेती चलावतो होय तेज खेती करवानी अवधि करे अे स्पष्ट छे. अमुक अेकर जमीन राखवी, अमुक हल राखवां अेम प्रतिज्ञा करनार माणस खेती चलावतो होवो न जोइये अे पुरवार करवानी वधारे जरूर नथी. ते उपरान्त जेनी पासे दस गो साहस्त्रिक होय ते खेती करतो होय अे पण अेटलुंज स्वाभाविक छे.

आ उपरथी अेटलुं तो स्पष्ट थाय छे के श्रावकधर्म लेती वखते 'खेती न करवी' अेवो निर्णय कोई श्रावके न कर्यो; वल्के, खेती करती वखते अमुकज जमीन राखवी, अमुकज हल राखवां अेवो निर्णय कर्यो, अेटले गृहस्थीने माटे खेती-नो विरोध करवाने वदले मात्र मर्यादा ज मूकी

पहेला अध्ययनमां जे पंदर कर्मादानो आपवामां आव्या छे ते जोईये. अमुक धंधो न करवो अेवुं कथन करतां कर्मादानो मनाय छे.

कम्मओ णं समणोवासएणं पणरस कम्मादाणाइं जाणियव्वाइं न समायरियव्वाइं। तं जहा—इङ्गालकम्मे, वणकम्मे, साडीकम्मे, भाडीकम्मे, फोडीकम्मे, दन्तवाणिज्जे, लक्खवाणिज्जे, रसवाणिज्जे, विसवाणिज्जे, केसवाणिज्जे, जन्तपीलणकम्मे, निल्लंछणकम्मे, दवग्गि-दावणया, सरदहतलावसोसणया, असइजणपोसणया।

ज्यां ज्यां गृहस्थनी प्रवृत्तिनी आलोचना करवामां आवे छे त्यां त्यां आ प्रवृत्तिओनो निषेध करवामां आव्यो छे.

दा. त. जुओ योग शास्त्रप्रकरण ३ श्लो. १०० थी ११५, आवश्यक सूत्र. ६–प्रत्याख्यानाध्याय सू ७.

आ वधा शब्दोमां कृषिनी विचारणा वखते फोडीकम्मे शब्द ध्यान खेंचे छे. टीकाकारो तेनो अर्थ जमीन फोडवी अर्थात् 'कृषि' अेवो करे छे. आ शब्दनो अर्थ समजवा माटे पहेलां कर्मादाननो अर्थ समजी लेवानी जरूर छे.

गृहस्थने अे वधा धंधा करवा पडे छे ते धंधामां जो

असंयम आचरीने ते वर्ते तो जरुर अनर्थ थाय. माटे अे जे कर्म करतो होय तो कर्म संयम पूर्वक आचारे, अे उपदेश जैन-शास्त्रोमां होय अे स्वाभाविक छे. जो कोई माणस मोटा पाया ऊपर अंगार कर्म-कोलसा बनाववा ई.-आचरे तो जरुर मोटी हिंसा थाय. अेम करवामां अने केटलांय लाकडांओ बालवा पडे, केटलांय वृक्षो कापवां पडे, अने अे मोटा पाया ऊपर धंधो करतो होवाथी अेनु ध्यान पण न रहे के क्यां लीलां लाकडां बली जाय छे, क्यां लाकडांओमां निरर्थक-बेदरकारी थी-जंतुओ मरी जाय छे; पण जो कोई गृहस्थ पोताना घर के परिवार माटे अंगारा बनावे तो अे बराबर ध्यान पण राखी शके अने अेमां अे जयणा राखी शके. अंगार वगैर कोईने चालवानुं तो नथीज, माटे गृहस्थनने अंगारा बनाववानी जरुर तो छे ज, मात्र मर्यादा बाहर जईने अे कर्म करे तो अेना स्थूल प्राणातिपातविरमण व्रतनो भंग थाय ज, परन्तु जे पोताना माटे, यतना करीने अंगारा बनावे तो अेमां अे व्रतनो भंग न थाय. बीजो दाखलो-भांडीकम्मे-गाडा बना-वीने भाडे फेरवे तो अे गाडांनी बनावटमां जरा पण ध्यान न राखी शके, अने अेवा गाडां बने के जे खेंचवामां बलदने अगबड थाय, वेसारूओ ने तकलीफ थाय, निरर्थक वधारे लाकडूं वपराय, वली गाडां भाडे आपती वखते अे ध्यान पण न रहे के गाडांने वापरनार माणस बलदने, सारी रीते राखशे वा बलदने मार मारशे, अतिभार लादशे, अने अे प्रमाणे स्थूल प्राणातिपातविरमण नो जरुर भंग थायज; अेथी उलटुं,

જો કોઈ ગૃહસ્થ પોતાને માટેજ વાપરવા ગાડાં રાખે, તો તે ધ્યાન રાખી શકે, બળદને થતી હાનિ ને રોકી શકે અને એવી સ્થૂલ પ્રાણાતિપાતવિરમણ વ્રતથી ઉગરી શકે. આ હેતુને લક્ષ્યમાં રાખીને જ આનંદાદિ શ્રાવકોને પોતાના વેપાર અને ઉપયોગ માટે ગાડાં રાખવાની છૂટ આપેલી હતી.

તેજ પ્રમાણે 'ફોડીકમ્મે' નો અર્થ સમજવાનો છે હજારો એકર જમીન ઉપર એકજ માણસ ખેતી કરે-કરાવે-અને અને માટે હજારો મજૂરો રોકે, અને મોટા પાયા ઉપર કૃષિકર્મ ચલાવે તો જરૂર સ્થૂલ પ્રાણાતિપાત વિરમણવ્રતનો ભઙ્ગ થાયજ કારણ કે પછી ઘરતી ખેડતાં લોભ અને અસંયમ વધે, અને એથી ખેડ કરનારાં માણસો પાસેથી હદ ઉપરાન્ત મજૂરી કરવાય, અને ખેતીમાં થતી હિંસા ઓછી કરવા તરફ ધ્યાન આપવાને બદલે ધાન્યલાભ અને તેથી થતા અર્થલાભ પ્રત્યેજ દૃષ્ટિ રહે. ખેતી કરતાં હિંસા તો જરૂર થાય છેજ, કારણ કે પૃથ્વી ઉપર અને અન્દર રહેલાં અનેક જીવોની હાની થાય છે, અને એમાંય જ્યારે હજારો એકર ઉપર એક માણસના નેતૃત્વ નીચે ખેતી થાય ત્યારે એ જીવહાની ઓછી કરવા તરફ લક્ષ્ય જ ન જાય. પણ જો એ માણસ પોતાના કુટુમ્બનિર્વાહ માટે ખેતી કરે તો તેના સ્થૂલ પ્રાણાતિપાતવિરમણવ્રતનો ભઙ્ગ થતો નથી. ખેતી અનિવાર્ય છે, કારણ કે ગૃહસ્થમાત્ર ફલમૂલ ખાઇને જીવી શકવાના નથી, પણ જ્યારે ખેતી કરવીજ પડે ત્યારે યતનાથી કરવી અને બહુ મોટા પાયા ઉપર ન કરવી એ ફોડીકમ્મે નો અર્થ છે. આ હેતુને

लक्ष्यमां राखीनेज इच्छाविधिपरिमाणमां खेतीनुं परिमाण बांधवुं पड्युं हतुं जो गृहस्थने खेती सर्वथा निषिद्ध होत तो शुं उपासकदशा सूत्र अम लखत—

तयाणंतरं च णं खेत्तवत्थुविहिंपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ पञ्चहिं हलसएहिं नियत्तण–सइएणं हलेणं, अवसेसं सव्वं खेत्तवत्थुविहिं पच्चक्खामि।

जो खेती आनन्दने माटे सर्वथा निषिद्ध होत तो भगवान् अने अमुक हल राखीने अमुक जमीनमां खेती करवी अवी प्रतिज्ञा आपत खरा?

आ रीते कर्मादानोनो अर्थ समजवानो छे. जे कर्म अनिवार्य होय ते तो कर्येज छुटको, परन्तु अ कर्म असंयमथी न करवुं. जो बधेज खेती बन्ध थई जाय तो संसार कदी चाले खरो? अने श्रावकने तो करवुं करावबुं सरखुंज छे अटले अ खेती न करे अने बीजानी पासे करावी पण न शके फोडीकम्मेनो अर्थ अम करीअ के 'खेती करवीज नहिं' तो अर्थनी जरा पण संगति थती नथी. कारण के खेती न ज करवानी होय तो आनन्द श्रावक ने क्षेत्रवास्तु परिमाण करावेज केम?

पहेलां, आनन्द श्रावकनुं व्रत ज जुओ. अेनुं व्रत स्थूलप्राणातिपातविरमणनुं छे. स्थूलप्राणातिपातविरमणनो अर्थ शुं? योगशास्त्र अेनी व्याख्या करतां कहे छे—

विरतिं स्थूलहिंसादेः द्विविधत्रिविधादिना।
अहिंसादीनि पञ्चाणुव्रतानि जगदुर्जिनाः॥ प्र. २. श्लो. १८.

जो कोई गृहस्थ पोताने माटेज वापरवा गाडां राखे, तो ते ध्यान राखी शके, बलदने थती हानि ने रोकी शके अने अेवी स्थूल प्राणातिपातविरमण व्रतथी उगरी शके. आ हेतुने लक्ष्यमां राखीने ज आनंदादि श्रावकोने पोताना वेपार अने उपयोग माटे गाडां राखवानी छूट आपेली हती.

तेज प्रमाणे 'फोडीकम्मे' नो अर्थ समझवानो छे, हजारो अेकर जमीन उपर अेकज माणस खेती करे-करावे-अने अने माटे हजारो मजूरो रोके, अने मोटा पाया उपर कृषिकर्म चलावे तो जरूर स्थूल प्राणात्तिपात विरमणव्रतनो भङ्ग थायज. कारण के पछी धरती खेडनां लोभ अने असंयम वधे, अने अेथी खेड करनारां माणसो पासेथी हद उपरान्त मजूरी करवाय, अने खेतीमां थती हिंसा ओछी करवा तरफ ध्यान आपवाने बदले धान्यलाभ अने तेथी थता अर्थलाभ प्रत्येज दृष्टि रहे. खेती करनां हिंसा तो जरूर थाय छेज, कारण के पृथ्वी उपर अने अन्दर रहेलां अनेक जीवोनी हानी थाय छे, अने अेमांय ज्यारे हजारो अेकर उपर अेक माणसना नेतृत्व नीचे खेती थाय त्यारे अे जीवहानी ओछी करवा तरफ लक्ष्य ज न जाय. पण जो अे माणस पोताना कुटुम्बनिर्वाह माटे खेती करे तो तेना स्थूल प्राणातिपातविरमणव्रतनो भङ्ग थतो नथी. खेती अनिवार्य छे, कारण के गृहस्थमात्र फलमूल खाइने जीवी शकवाना नथी, पण ज्यारे खेती करवीज पडे त्यारे यतनाथी करवी अने बहु मोटा पाया उपर न करवी अे फोडीकम्मे नो अर्थ छे. आ हेतुने

लक्ष्यमां राखीनेज इच्छाविधिपरिमाणमां खेतीनुं परिमाण बांधवुं पड्युं हतुं जो गृहस्थने खेती सर्वथा निषिद्ध होत तो शुं उपासकदशा सूत्र अेम लखत—

तयाणंतरं च णं खेत्तवत्थुविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ पञ्चहिं हलसएहिं नियत्तण-सइएणं हलेणं, अवसेसं सव्वं खेत्तवत्थुविहिं पच्चक्खामि।

जो खेती आनन्दने माटे सर्वथा निषिद्ध होत तो भगवान् अने अमुक हल राखीने अमुक जमीनमां खेती करवी अेवी प्रतिज्ञा आपत खरा ?

आ रीते कर्मादानोनो अर्थ समजवानो छे जे कर्म अनिवार्य होय ते तो कर्येज छुटको, परन्तु अ कर्म असंयमथी न करवुं जो वधेज खेती बन्ध थई जाय तो संसार कदी चाले खरो ? अने श्रावकने तो करवुं कराववुं सरखुंज छे अेटले अ खेती न करे अने बीजानी पासे करावी पण न शके फोडीकम्मेनो अर्थ अेम करीअे के 'खेती करवीज नहिं' तो अर्थनी जरा पण संगति थती नथी. कारण के खेती न ज करवानी होय तो आनन्द श्रावक ने क्षेत्रवास्तु परिमाण करावेज केम ?

पहेलां, आनन्द श्रावकनुं व्रत ज जुओ. अेनुं व्रत स्थूलप्राणातिपातविरमणनुं छे. स्थूलप्राणातिपातविरमणनो अर्थ शुं ? योगशास्त्र अेनी व्याख्या करतां कहे छे—

विरतिं स्थूलहिंसादेः द्विविधत्रिविधादिना।
अहिंसादीनि पञ्चाणुव्रतानि जगदुर्जिना॥ प्र २. श्लो. १८

स्थूला-मिथ्यादृष्टिनामपि हिंसात्वेन प्रसिद्धा या हिंसा सा स्थूल-हिंसा। ....भ्यः स्थूलहिंसादिभ्यो या विरतिर्निवृत्ति-स्तामहिंसादीनि अहिंसासुनृता-स्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहान् पञ्चाणुव्रतानीति जिनास्तीर्थंकराः जगदु प्रतिपादितवन्तः।

वलि गृहस्थीए केवी अहिंसा आचरवानी होय छे. तेनुं निरूपण करतां योगशास्त्र जणावे छे के—

निरर्थिकां न कुर्वीत जीवेषु स्थावरेष्वपि।
हिंसामहिंसाधर्मः कांक्षन् मोक्षमुपासकः॥

स्थावरा पृथिव्यम्बुतेजोवायुवनस्पतयस्तेष्वपि जीवेषु हिंसां न कुर्वीत। किं विशिष्टां, निरर्थिकां प्रयोजनरहितां, शरीरकुटुम्बनिर्वाहनिमित्तम् हि स्थावरेषु हिंसा न प्रतिषिद्धा, या तु अनर्थिका शरीरकुटुम्बादिप्रयोजन-रहिता तादृशीं हिंसा न कुर्वीत।

अेम कहीने स्पष्ट छूट आपेली छे के गृहस्थने शरीर कुटु-म्ब निर्वाह माटे करवी पडती हिंसा करवामां वांधो नथी.

आवश्यकसूत्रनी टीकामां हरिभद्रसूरि स्थूल प्राणाति-पातविरमणव्रतनी स्पष्ट व्याख्या करी बतावे छे, अने तेमां कृषिनुं नाम आपी ने तेनी छूट आपे छे-जुओ नीचेना फकरो-

थूलगपाणाइवायं समणोवासगो पच्चक्खाइ, से पाणाइवाए दुविहे पन्नत्ते तंजहा—संकप्पओ अ आरंभओ अ, तत्थ समणोवासओ संकप्पओ जावज्जीवाए पच्चक्खाइ, नो आरंभओ, ... थूलगपाणाइवायवेरमणस्स समणोवासएणं इमे पञ्च अइयारा जाणियव्वा, तंजहा—बन्धे, वहे, छविच्छेए, अइभारे, भत्तपाणवुच्छेए। सूत्रम्।

अस्य व्याख्या—स्थूलाः द्वीन्द्रियादयः स्थूलत्वं चैतेषां सकल-लौकिकजीवत्वप्रसिद्धेः एतदपेक्षयैकेन्द्रियाः सूक्ष्माधिगमेनाजीवत्वसिद्धे-रिति, स्थूला एव स्थूलकास्तेषां प्राणाः—इन्द्रियादयः तेषामतिपातः स्थूलप्राणातिपातः तं श्रमणोपासकः श्रावक इत्यर्थः, तद्यथेत्युदाहरणो-पन्यासार्थः, सङ्कल्पजश्चारम्भजश्च, सङ्कल्पाज्जातः सङ्कल्पजः मनसः सङ्कल्पात् द्वीन्द्रियादिप्राणिनः मांसास्थिचर्मनखवालदन्ताद्यर्थं व्यापादयतो भवति, आरम्भाज्जातः आरम्भजः, तत्रारम्भो—हलदन्तालखननतस्तत्-प्रकारस्तस्मिन् शङ्खचन्दणकपिपीलिकाधान्यगृहकारकादिसङ्घट्टनपरि-तापापद्रावलक्षण इति, तत्र श्रमणोपासकः सङ्कल्पतो यावज्जीवयापि प्रत्याख्याति, न तु यावज्जीवयैव नियमत इति 'नारम्भजमिति, तस्य अवश्यंतयाऽऽरंभसद्भावादिति, आह—एवं संकल्पतः किमिति सूक्ष्म-प्राणातिपातमपि न प्रत्याख्याति ? उच्यते एकेन्द्रिया हि प्रायो दुष्परिहाराः सद्मवासिनां सकल्पयैव सचित्तपृथिव्यादिपरिभोगात् ।

भावार्थ ए के—

गृहस्थीए स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत लेवुं. हवे स्थल जुवो कया ? बे इन्द्रियादि जीवो, कारण के ए जीवोने बधा लोको—स्वमत अने परमत वाला लोको पण—सजीव माने छे; एकेन्द्रियने नहिं; कारण के ए खुब सूक्ष्म होवाने लीधे एने केटलाक अजीव गणे; हवे ए बे इन्द्रियादि स्थूल जीवोनी हिंसाथी गृहस्थे विरमवुं. ज्ञानीओए जीवहिंसा बे प्रकारनी वर्णवेली छे. संकल्पथी थती हिंसा ते संकल्पजहिंसा, अने आरम्भथी थती ते आरंभजहिंसा. जो कोई माणस अस्थि अने

चर्म, नख, वाल, दांत, इत्यादिना वेपार माटे प्राणीओनी हिंसा करे, अर्थात् जाणीबुझीने, अ प्राणीओने हणवाना संकल्पथीज तेमनो वध करे ते संकल्पहिंसा. हल दंतालीथी खोदवुं, अर्थात् कृषि कर्म करनार जो संकल्प राखे के मारे कृषि कर्म करतां वखते शंख, चन्दणकादि त्रस जीवनी हिंसा करवी, तो ते हिंसा वर्ज्य छे, अने गृहस्थीअ अेनुं जावज्जीव पच्चक्खाण लेवुं जोइअे. पण जावज्जीव पच्चक्खाण लेवुंज अेवो नियम नथी; अने तेमांय वली ए जीवोने मारवानो संकल्प न होय परन्तु अ करतां जे .... जीवो मरी जाय तेने आरंभ हिंसा थाय अेनुं पच्चक्खाण न लेवुं; कारण के खेतीनो आरंभ अवश्य छे ज. हवे पुछे छे के सूक्ष्मस्थावरजीवोनी अकेन्द्रियोनी संकल्प हिंसाथी त्याग केम सूचवता नथी? तो कहे छे के गृहस्थीओ माटे अेकेन्द्रियोनी संकल्प हिंसाथी दूर रहेवुं अे अशक्य छे, कारण के सचित्त पृथिव्यादि द्रव्योना उपभोगथी गृहस्थो दूर न रही शके.

आ विवरणमां आपणे जोयुं के गृहस्थोने स्थावर जीवोनी संकल्प हिंसानी पण छूट छे. स्थूलप्राणातिपात विरमणव्रतमां स्थावर जीवोनी हिंसानो बाध नथी. अेटले स्थावर जीवोनी हिंसानो क्यांय बाध नथी, वली त्रसजीवोनी हिंसामां पण मात्र संकल्प हिंसानोज बाध छे. अने अेमां य खेती माटे केटली बधी छूट आपेली छे ते तो स्पष्ट ज छे.

हरिभद्र सूरिनो आ फकरो ज मात्र, गृहस्थोने खेतीनी

संपूर्ण छूट आपेली छे, अे दर्शाववा पुरतो छे. जैनदर्शनमां प्रमाण अेवा आ आचार्यना स्थूल प्राणातिपात विरमणव्रतना अर्थमां कंई खामी —भूल— होय अे मानी शकाय नहिं. वली आ हेमचन्द्रना योगशास्त्रमांथी गृहस्थोने आपेली छूटनो फकरो ध्यानमां लेवानो छे.

तदुपरांत, स्थूल प्राणातिपातविरमणव्रतना पांच अतिचारो वर्णवतां आवश्यक सूत्र कहे छे—जे उपासकदशा सूत्रमां पण अेज रूपे आवे छे—

थूलगपाणाइवायवेरमणस्स समणोवासएणं इमे पञ्च अइयारा जाणियव्वा, तंजहा—बन्धे, वहे, छविच्छेए, अइभारे, भत्तपाणवुच्छेए ।

अने अेनी व्याख्या करतां हरिभद्र सूरि कहे छे—

बन्धो दुविधो दुप्पदाणं चतुप्पदाणं च, अट्ठाए अणट्ठाए य, अणट्ठाए न वट्टति बन्धेत्तुम्; अट्ठाए दुविधो निरवेक्खो सावेक्खो य ·· ···· ··· ······· ··· ·· अतिभारो ण आरोवेतव्वो, पुव्व चेव जा वाहणाए जीविया सा मोत्तव्वा, ण होज्जा अण्णा जीविता ताधे दुपदो जं सय उक्खिवति उत्तारेति वा भारं एवं वहाविज्जति, बइल्लाणं जधा साभावियाओवि भारातो ऊणओ कीरति, हलसगडेसु वि वेलाए मुयति ।

आ 'अतिभार' कृषि संबंधमां खास ध्यान खेंचे छे. बलदो उपर खूब भार न लादवो, अेमने हलमांथी वेलासर मुक्त करवा. अेनो भंग करवाथी गृहस्थने अहिंसा व्रतनो भंग थाय छे. जो गृहस्थोने खेती निषिद्ध होय तो बलदने हलमांथी यथासमय मुक्त करवा अेवुं हरिभद्र सूरि केवी रीते लखी शके?

आ उपरथी अेम स्पष्ट पणे मालूम पडे छे के उपासक-दशासूत्र, योगशास्त्र, आवश्यकसूत्र अने तेनी हरिभद्र सूरिनी व्याख्या बतावे छे के गृहस्थने जीवन धारणा माटे सावधानी पूर्वक खेती करवामां कोई हरकत नथी.

हवे, दिगम्बरशास्त्रना अनुयायी उपासकोना आचारना नियमो जोइये, अने अेमां खेती विशे शुं अभिप्राय छे, ते तपासीअे.

ते माटे, 'सागारधर्मामृत' मां गृहस्थनी प्रवृत्तिनी आलोचना तपासवी घटे छे. सागारधर्मामृतना कर्ता आशाधर (समय ई. स. १२५६) छे, अने ते दिगम्बर शास्त्र नो ग्रंथ छे

सागारधर्मामृतमांथी नीचेनां अवतरणो तपासो—

सामान्येन पचाणुव्रतानि लक्षयन्नाह—

विरति' स्थूलहिंसादेः मनोवाचोऽङ्गकृतकारितानुमतैः ।
क्वचिदपरेऽप्यननुमतैः पचहिंसाद्यणुव्रतानि स्युः ॥

—अ. ४, गा. ५.

व्याख्या करतां कहे छे—

—इतो विस्तरः । स्थूलजीवादिविषयत्वान्मिथ्यादृष्टीनामपि हिंसादित्वेन प्रसिद्धत्वाद्वा स्थूलो वधादि स्थूला हिंसानृतस्तेयाब्रह्म-परिग्रहा इत्यर्थ' ।

आ व्याख्या उपर टांकेला आवश्यकसूत्रना अवतरणमां छे, तेनी जेवी ज छे. के जेने स्वमत अने परमतना अनुयायीओ हिंसा तरिके स्वीकारता होय तेज स्थूलहिंसा.

आगल जतां गृहस्थे केवी हिंसा तजवी जोईये-अने ए चर्चामां दिगम्बरोनो कृषि विशे स्पष्ट मत आवी जाय छे—ते विशे लखे छे—

इत्यनारम्भजां जह्याद्धिंसामारम्भजां प्रति ।
व्यर्थस्थावरहिंसावत यतनामावहेद्गृही ॥

—अ ४, श्लो. १०

टीका—जह्यात् त्यजेत् । कोऽसौ, गृही, गृहवर्तिश्रावकः । कां, हिंसां, कि विशिष्टाम्—अनारम्भजां अनारभे—आसनोपवेशादौ जातां तत्सम्भविनीं इत्यर्थः । उक्तं च—

गृहकार्याणि सर्वाणि दृष्टिपूतानि कारयेत् ।

कथं जह्यात्, इति अनेन त्यक्तगृहोपासकोपदिष्टेन प्रकारेण । तथा आवहेत कुर्यात् । कोऽसौ गृही । कां यतनां समितिपरतां । कथं प्रत्युद्दिश्य । कां हिंसां । किं विशिष्टां—आरम्भजां, कृष्याद्यारम्भ-सम्भविनीं । किंवत् व्यर्थस्थावरहिंसावत् निष्प्रयोजनैकेन्द्रियवधे यथा ।

गृहवासो विनारम्भान्न चारम्भो विना वधात् ।
त्याज्यः सः यत्नात्तन्मुख्यो दुस्त्यजस्त्वानुषङ्गिकः ॥ अ. ४ श्लो १२

टीका—न भवति । कोऽसौ गृहवासो गेहाश्रम. । कथ विना । कस्मात्, आरम्भात् कृष्यादिजीवनोपायात् । तथा न भवति । कोऽसौ आरम्भः । कथं विना । कस्मात्, वधात् प्राण्युपमर्दनात् । यत एवं तत्तस्मा-त्याज्यः । कोऽसौ स वध. । कि विशिष्टो, मुख्यः इमं जन्तुं आसाद्य अर्थित्वेन हन्मीति संकल्पप्रभवः । यत्नात् अवधानात् । तुर्विशेषे । तेन भवति । कोऽसौ आरम्भ । कि विशिष्टो दुस्त्यजः त्यक्तुमशक्यः । कि

विशिष्टः, आनुषङ्गिकः कृष्याद्यनुषङ्गे जातः कृष्यादौ क्रियमाणे सम्भवन्नित्यर्थः।

टीका अर्थने लगभग स्पष्ट करी ज नाखे छे छतां केटलीक चर्चा आवश्यक छे.

श्लोक दसमामां अेम जणाव्युं छे के गृहस्थे श्रावके अनारंभज हिंसा अेटले के संकल्पहिंसा–नो त्याग करवो; आरंभज हिंसा छोडी शकाय नहिं, माटे अे आरंभ करती वेलाअे यतना राखवी. जेम व्यर्थ स्थावर जीवो न हणाय तेनी यतना राखवामां आवे छे तेम आरंभज हिंसामां व्यर्थ जीवो न हणाय तेनी यतना राखवी. श्लोकने सरल रीते गोठवीअे—

अनारम्भजां हिंसां जह्यात्; आरम्भजां प्रति गृही व्यर्थस्थावरहिंसावत् यतनाम् आवहेत्।

अने टीकामां स्पष्टपणे जणाव्युं छे के कृषि आरम्भज हिंसा छे. ते आचरवी अवश्य, परन्तु यतना राखवी.

श्लोक बारमामां अेम जणाव्युं छे के हिंसा आचर्या वगर गृहवास थई शकेज नहिं. माटे मुख्य वध–अर्थात् संकल्प हिंसा ज, जेने मुख्य हिंसा गणवामां आवी छे—छोडवो, अने अे न छोडी शकाय तेवी आरम्भ हिंसा सावधानीथी करवी. अने अे आरम्भना उदाहरणमां अहिं पण कृष्यादि हिंसा गणावी छे.

अेटले, आ बन्ने श्लोको अने अेनी टीकाओ जोतां अेटलुं स्पष्ट थाय छे के गृहस्थोने आरम्भ हिंसा बाधक नथी, अेमणे

तो मात्र संकल्पहिंसाथी ज दूर रहेवानुं छे. (अहिं अेक बात नोंध पात्र छे—के श्वेताम्बरो गृहस्थोने माटे स्थावर जीवोनी संकल्प हिंसा पण बाधक गणता नथी. जुवो में टांकेलो आवश्यक सूत्र-टीका फकरो-ज्यारे दिगम्बर गृहस्थो स्थावर जीवोनी पण संकल्प हिंसा ने त्याज्य गणे छे. आ मुद्दाने कृषि साथे कंईज संबंध नथी) कृषि अनिवार्य छे, अने श्राव-कोने ते करवामां हानि नथी अे स्पष्ट नीकलेलुं. वली आव-श्यक सूत्रनी माफक प्राणातिपात विरमणना अतिचारो वर्णवतां अतिभार पण वर्णवे छे. जुओ—

मुञ्चन् बन्धं वधच्छेदावतिभारादिरोपणम् ।
भुक्तिरोधं च दुर्भावाद्भावनाभिस्तदाविशेत् ।। अ. ४; श्लो १६

अने आवश्यक सूत्र अने अेनी व्याख्या ने लगभग शब्दशः अनुसरीने टीकाकार अतिभार विशे लखे छे—

चतुष्पदस्य तु यथोचितभारः किञ्चिदूनः क्रियते हल-शकटादिषु पुनरुचितवेलायामसौ मुच्यते इति चतुर्थः ।

अने पहेलांनी दलील अहिं पण लागु पडे छे के कृषि निषिद्ध होय तो हलमांथी योग्य काले बलदने छोडवा अेवो नियम शा माटे करवामां आवे ?

आ उपरथी निष्पन्न थाय छे के श्वेताम्बर शास्त्रोनी माफक ज दिगम्बर शास्त्रोमां पण गृहस्थोने कृषि कर्मनी छूट आप-वामां आवेली ज हती.

खेती विशेनी मुख्य दलीलो श्रावकना आचार जीवनमांथी

विशिष्टः, आनुषङ्गिकः कृष्याद्यनुषङ्गे जातः कृष्यादौ क्रियमाणे सम्भवन्नित्यर्थः ।

टीका अर्थने लगभग स्पष्ट करी ज नाखे छे छतां केटलीक चर्चा आवश्यक छे.

श्लोक दसमामां अेम जणाव्युं छे के गृहस्थे श्रावके अनारंभज हिंसा अेटले के संकल्पहिंसा–नो त्याग करवो; आरंभज हिंसा छोडी शकाय नहिं, माटे अे आरंभ करती वेलाअे यतना राखवी. जेम व्यर्थ स्थावर जीवो न हणाय तेनी यतना राखवामां आवे छे तेम आरंभज हिंसामां व्यर्थ जीवो न हणाय तेनी यतना राखवी. श्लोकने सरल रीते गोठवीअे—

अनारम्भजां हिंसां जह्यात्; आरम्भजां प्रति गृही व्यर्थस्थावरहिंसावत् यतनाम् आवहेत् ।

अने टीकामां स्पष्टपणे जणाव्युं छे के कृषि आरम्भज हिंसा छे. ते आचरवी अवश्य, परन्तु यतना राखवी.

श्लोक बारमामां अेम जणाव्युं छे के हिंसा आचर्या वगर गृहवास थई शकेज नहिं. माटे मुख्य वध–अर्थात् संकल्प हिंसा न, जेने मुख्य हिंसा गणवामां आवी छे—छोडवो, अने अे न छोडी शकाय तेवी आरम्भ हिंसा सावधानीथी करवी. अने अे आरम्भना उदाहरणमां अहिं पण कृष्यादि हिंसा गणावी छे.

अेटले, आ बन्ने श्लोको अने अेनी टीकाओ जोतां अेटलुं स्पष्ट थाय छे के गृहस्थोने आरम्भ हिंसा बाधक नथी, अेमणे

तो मात्र संकल्पहिंसाथी ज दूर रहेवानुं छे. (आहिं अेक बात नोंध पात्र छे—के श्वेताम्बरो गृहस्थोने माटे स्थावर जीवोनी संकल्प हिंसा पण वाधक गणता नथी. जुवो में टांकेलो आवश्यक सूत्र-टीका फकरो-ज्यारे दिगम्बर गृहस्थो स्थावर जीवोनी पण संकल्प हिंसा ने त्याज्य गणे छे. आ मुदाने कृषि साथे कंईज संबंध नथी) कृषि अनिवार्य छे, अने आवकोने ते करवामां हानि नथी अे स्पष्ट नीकलेलुं. वली आवश्यक सूत्रनी माफक प्राणातिपात विरमणना अतिचारो वर्णवतां अतिभार पण वर्णवे छे. जुओ—

मुञ्चन् बन्धं वधच्छेदावतिभारादिरोपणम् ।
भुक्तिरोधं च दुर्भावाद्भावनाभिस्तदाविशेत ।। अ. ४; श्लो १६

अने आवश्यक सूत्र अने अेनी व्याख्या ने लगभग शब्दशः अनुसरीने टीकाकार अतिभार विशे लखे छे—

चतुष्पदस्य तु यथोचितभारः किञ्चिदूनः क्रियते हल-शकटादिषु पुनरुचितवेलायामसौ मुच्यते इति चतुर्थः ।

अने पहेलांनी दलील अहिं पण लागु पडे छे के कृषि निषिद्ध होय तो हलमांथी योग्य काले बलदने छोडवा अेवो नियम शा माटे करवामां आवे ?

आ उपरथी निष्पन्न थाय छे के श्वेताम्बर शास्त्रोनी माफक ज दिगम्बर शास्त्रोमां पण गृहस्थोने कृषि कर्मनी छूट आपवामां आवेली ज हती.

खेती विशेनी मुख्य दलीलो श्रावकना आचार जीवनमांथी

सिद्धकरी, अने आ माटे प्रमाणभूत शास्त्रोने पण तपास्यां. हवे जुदां जुदां शास्त्रोमांथी मलतां बीजा प्रमाणो नोंधीश.

आवश्यकसूत्रना पहेला विभागमां, पहेलांना लोको केवा हता, तेनुं वर्णन करेलुं छे अे लोकोने आदीश्वर भगवाने केटलाय आवश्यक व्यवसायो शीखव्या अेनुं वर्णन आवे छे. अेमां पहेलुंज स्थान कृषिनुं आवे छे—

कम्मं किसिवाणिज्जाइ मामणा जा परिग्गहे ममया ।
पुव्विं देवेहिं कया विभूसणा मडणा गुरुणो ॥

इत्यादि घणा व्यवसायो शीखवाड्या, परन्तु आपणे कृषि तरफज ध्यान आपीअे.

ऋषभदेवे लोकोने कृषि शीखडावी. कृषि जो निषिद्ध होत तो ज्ञानी भगवान कृषि शा माटे शीखवाडे ? कृषि अे अधर्माचरण होत तो आदीश्वर भगवाने जरूर कोई बीजो धर्म्य व्यापार उपदेश्यो होत परन्तु अेमणे बीजा बधा व्यापारोमां कृषिने प्रथम स्थान आप्युं अे ज कृषिनी अगत्य अने अेनुं निर्दोषपणुं साधवा पुरतुं छे. जन समाजने कृषिनी जरूर आदिकालथी हती अने आदिकालथी भगवाने खेती नो उपदेश कर्यो हतो. आ प्रमाण खेती अने जैनधर्म वच्चे अविरोध दर्शावे छे ज

जैनधर्ममां दाननो महिमा खूब आवे छे. शुद्ध अने पवित्र दान करवाथी केटलाय गृहस्थोने कर्मनी निर्जरा अने अनेक विध पुण्यो थयलानी कथाओनी जैन साहित्यमां खामी नथी

अने तेमांय अन्नदाननो महिमा ओछो गवायो नथी. गृहस्थ योगना शिक्षाव्रतोमां चोथुं शिक्षा व्रत अतिथिसंविभाग आवे छे. अतिथिसंविभाग व्रत अेटले साधु श्रमणो जेमने पर्व के उत्सवो छे नहिं, अेमने शुद्ध अने ग्राह्य अेवा आहारनुं शुभ-वृत्तिथी दान करवुं ते. जुओ योगशास्त्र—

दानं चतुर्विधाहारपात्राच्छादनसमनाम् ?
अतिथिभ्योऽतिथिसंविभागव्रतमुदीरितम् ॥ प्र.३, गा ८७,

अने आधार टांकतां लखे छे-यदूचुः—

नायागयाणं कप्पणिज्जाण, अन्नपाणाईणं दसाणं देसकालसद्धा-सक्कारक्कमजुअ' पराअ भत्तीए आयाणुग्गहबुद्धीए संजयाणं दाणं अतिहिसंविभागो। छाया—न्यायागतानां, कल्पनीयानां, अन्नपानादीनां द्रव्याणां देशकालश्रद्धासत्कारकमयुक्त' परया भक्त्या आत्मानुग्रहबुध्या संयतानां दानं अतिथिसंविभागः ।

अन्न खेतीथीज उत्पन्न थाय छे हवे जो खेती श्रावकोने गहर्य होय तो श्रावकोने करेला दाननो महिमा शा माटे गावामां आवे छे. खेतीनो सर्वथा निषेध करनार धर्म, खेतीथी उपजता अन्नदाननी आटली बधी प्रशंसा करे? अन्नदाननी प्रशंसा थाय छे अेनो अर्थज अे के खेती श्रावको ने बाधित नथी.

भगवतीसूत्रमां केवा केवा पापी लोकोनी केवी खराब गति थई अे वर्णवती अनेक कथाओ आवे छे. पण अेक पण वार्ता अेवी नथी के कोई खेडुत खेती करवाथी नरके गयो. अेथी उलटुं, उपासकदशासूत्रमां आवती कथाओमां बधा

उपासकों-श्रावक—जेओ वहोलो वेपार अने-खेती-चलावता हता तेओ बधा शुद्ध श्रावक धर्म पालीने मोक्षमार्गे गया अेवी वार्ताओ आवे छे. कृषिकर्म जो जैनधर्म ने मान्य न होत, तो अेवी कथाओ जरूर आवत के कृषिकर्म-करनार लोको पाप-कर्मीओ छे.

वनस्पति आहारनी वधारे तरफेण करतो धर्म कदाच जैनधर्मज छे. जनसमूह मांसाहार ओछो करतो थाय ते माटे स्पष्ट ज छे के खेती वधारवीज जोईये. प्राणीओने खेतीना काममां लेवां जोईये अने कसाईखानामां जतां अटकाववां जोईए. अेथी मांस मोंघु थाय, अने हिंसा ओछी थाय. आ स्थिति होवाथी अहिंसा प्रधान वनस्पति आहारनी तरफेण करतो जैनधर्म कृषिनो विरोध शी रीते करे ?

उपरनी चर्चा उपरथी अेम सहेजे मालूम पडी आवशे के खरा व्रतधारी श्रावकने पण, मात्र संकल्प—जीवो ने हणवानी इच्छाज खरी हिंसा छे, अने आरंभ हिंसा तो बाधक नथीज. जैनोनी अहिंसानी मान्यतामां विकृति थवाथीज जैनधर्मने अने कृषिकर्मने विरोध छे अेवी भूल भरेली मान्यता फेलवा पामी छे.

हिंसानी कल्पना मात्र बाह्य हिंसानी न हती परन्तु आभ्य-न्तर हिंसानी हती. मनमां कषायो होय अे ज हिंसा छे अने तेथी ज इन्द्रियनिग्रह करीने अे कषायोने निर्मूल करवो जोईये. संकल्पहिंसा उपरज जैनशास्त्रोअे भार मूक्यो छे ते आ कथनने

सप्रमाण बनावे छे. परन्तु जेम जेम धर्ममां विकृति पेठी तेम तेम लोको आंतरतपमांथी बाह्य तपना आडम्बरमां पड्या. आंतर तप वधारे उच्च अने कठण हतुं, मनमां कोई प्रत्ये द्वेष न करवो, कोई प्रत्ये वैरभाव न राखवो, कोई ने प्राणहानि थाय अेवा संकल्प न करवो अेज खरूं आंतर तप हतुं. अने स्वाभाविक रीते ज बाह्य कर्मनो मार्ग सहेलो देखायो, अने नवला लोको अेने अनुसर्या. मात्र बाह्य जीवोनी हिंसा न करवी अेज अहिंसा, अेवो प्रचार चाल्यो; अने जैनोनी अहिंसानुं विकृत अने संकुचित स्वरूप फेलावा लाग्युं. साचुं आचरवुं, मनोव्यापार शुद्ध रहे अेवी खरी अहिंसक प्रवृत्तिने बदले वहारथी जीवदयानो आडंबर फेलातो चाल्यो.

अने आजे एवी विकृतदशाअे पहोंची गया छीअे के चामड़ानो मोटो वेपार करीअे छीअे, हीरा मोतीनो वेपार करीअे छीअे-जेमां छीपने मारी नाखवीज पडे छे, मीलो चलावीअे छीअे, अने अे वेपारमां कंई बाध नथी आवतो, पण खेती करवामां जीवदयानो प्रश्न आडे आवे छे, हिंसानुं पाप आडे आवे छे ! जे व्यवसाय वगर समाजजीवन अशक्य छे ते व्यवसाय तरफ आपणे उपेक्षावृत्ति करीअे छीअे. खेडूतनी अगत्य ओछी थई जतां अने अेना ग्रामजीवन तरफ दुर्लक्ष्य करवाथी आजे आपणुं सामाजिक जीवन केटलुं छिन्नविछिन्न थई गयुं छे. ते तो हजी प्रत्यक्ष ज छे. शास्त्रमां कह्युं छे के खेती करवामां हिंसा छे माटे खेती न करवी' अे भूलभरेली मान्यताअे आप-

णने केटला मोटा भुलावामां नाख्या छे !

जे कर्म वगर पृथ्वी पर मानव जातने जीववुं अशक्य छे. ते कर्मनो जैनधर्म विरोध करे छे, अेम माननार जैनधर्मने विकृतिनी कई कक्षाए लई जाय छे. तेनो ताग काढवो अशक्य छे. धर्मनां मुख्य त्रण पासा-धारण पोषण अने सत्वसंशुद्धि. खेती अेमां कया अंगथी विरुद्ध छे ? वल्के, खेती ज समाजनुं धारण अने पोषण करे छे. सात्विक रीते रहनार, पृथ्वीमांथी ज पोतानी जरूरियात मेलवनार, वधारे लोभ न राखनार श्रम-जीवी कृषिकार माटे तो कृषि अे ज धर्म छे. अने अे खेतीनो विरोध जैनधर्म तो शुं, पण कोई पण धर्म न करी शके. श्री किशोरलाल मशरूवाला "जीवनशोध" मां लखे छे—

"धर्मनी असर तेना आचरनार करतां वधारे मोटा क्षेत्रने व्यापनारी होवाथी, अे क्षेत्रनी विशालता कई बाबतमां केटली होय त्यां सुधी योग्य गणाय, तेनी अे मर्यादा रहे छे. अे मर्यादा न समजवाथी, तारतम्य (Sense of Proportion) नो भंग थाय छे अने परिणामे धर्म आचरनार पोते पंगु बनी जाय छे. अे मर्यादानो, देश-काल वगेरेनी परिस्थिति प्रमाणे, संकोचविकास थाय. अेवी मर्यादाने जे प्रजा समजी शके छे अने पोताना जीवनमां तेने अनुकूल फेरफार करी शके छे, ते प्रजा जीवनमां टकी रहे छे अने आगल वधती रहे छे. अे मर्यादानी योग्यता समजवानी कसोटी ते आ धर्मनुं स्वरूप. अेवुं न ठरावबुं जोइये के जेथी तेने आचरनार व्यक्ति के वर्गनां

जीवनमां धारण पोषण अने सत्वसंशुद्धि अशक्य के अघटित रीते परावलंबी थई जाय. दाखला तरीके खेतीमां हिंसा रहेली छे; अटले, खेती न करवाथी केटलांक प्राणीओनुं सुख बधे छे: अथवा, शस्त्रधारणमां हिंसा रहेली छे. पण खेती के शस्त्रनो त्याग करनार वर्ग पोतानां जीवन निर्वाह तथा सत्वसंशुद्धिनी बाबतमां अघटित रीते परावलंबी बनी जाय छे. जो आखो मनुष्यसमाज अे धर्म स्वीकारे तो मनुष्यजीवन अशक्यवत् बने अेवो संभव छे अटले, धर्म मानवसमाजनां अर्थ अने कामनी सिद्धिने विरोधी होवाथी अने धर्म समजवामां भूल थाय छे."

(खंड पहेलो-चौथो-पुरुषार्थ)

खेती करवामां हिंसा थाय छे अेम माननार विचार करे के कया कर्ममां हिंसा नथी ? 'जीवैः ग्रस्तमिदं सर्वं' अनुसार जीवन जीववुं अ पण अेक हिंसाज छे ने ? परन्तु जीवन ने जेम शुद्ध अने विकृति रहित जीवीए तेमांज जीवननी सार्थकता छे. पाणीमां असंख्य जीवो छे अेम जैनधर्म कहे छे—अने आधुनिक विज्ञानशास्त्र पण अेनुं समर्थन करे छे;—जैनशास्त्रमां अेनुं अेक उदाहरण प्रसिद्ध छे के पाणीना अेक टीपामां जेटला जन्तुओ छे अे बधाय जो कबुतरनुं स्वरूप धारण करे तो पृथ्वी उपर समाय नहिं, छतां जैनधर्मे पाणी पीवानी मनाई करी छे ? उलटुं पाणीने गालीने, गरम करीने, शुद्ध करीने पीवानी सूचना आपेली छे. कारण के पाणी वगर जीवन धारण

अशक्य छे. अेवीज रीते, खेतीमां हिंसा थाय छे-जीवो मरे छे अे वात साची छे पण जैनधर्मे खेतीनी मनाई करी नथी. उलटुं यतनाथी, सावधानीथी, खेती करवी अेवो उपदेश आपेलो छे; कारण के खेतीथी नीपजतुं अन्न पाणी जेटलुंज जीवन-धारण ने माटे आवश्यक छे.

जैनशास्त्रोमां कह्युं छे के मनुष्यजन्म दुर्लभ छे, माटे प्रमाद न करो. मोक्ष माटे मनुष्य देहज साधन छे. माटे मनुष्य देहने टकावीने श्रेयप्राप्तिने मार्गे जवुं अे दरेक श्रेयार्थिनुं ध्येय होवुं जोइये. मनुष्य देहने टकाववा माटे अन्न अनिवार्य छे, अने अन्न, माटे खेती अनिवार्य छे. अने अेथी, खेतीनो विरोध जैनधर्ममां शाने होय?

वली, खेती आटली सावधानीथी अने आटली हद सुधी करवानी मर्यादा व्रतधारी शुद्ध श्रावक ने माटेज छे. सामान्य जैन गृहस्थोने तो खेती करवामां जरा पण वाध न होई शके. उपासकदशामां जे श्रावकोनां चरित्रो छे ते तो आदर्श श्रावकोनां छे. अने तेमने पण खेती करवानी छूट हती, तो पछी सामान्य जन समूह, के जे आदर्श श्रावकनी कोटिमां न आवी शके, पण जेणे जैनधर्म अपनाव्यो होय, तेने तो खेती करवामां शो वाध होई शके?

आ कालमां जैनधर्म अने कृषिकर्म नो प्रश्न थाय अेज अनुचित छे. जीवन धारण पोषणना अेक मात्र पुराणा मार्गनी विरुद्ध कोई धर्म होई ज न शके, अने तेय हिन्दुस्तानमां

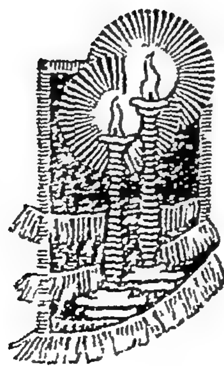
तो नहिंज. अेक वखत अेवो हतो के ज्यारे हिन्दुस्तानमां अन्न खुटतुं नहिं, अने अनेक यज्ञो कर्या छतां घी दूध दुर्लभ थतां नहिं; धीरे धीरे देशनी राजकीय स्थिति पलटाई अने आजे अेवी स्थिति आवी छे के हिन्दना अनाजनो भंडार कही शकाय अेवा प्रांतना लोकोने मुठी चोखा माटे हाथ लांबो करवो पडे छे. आवा समयमां कृषिनी अगत्य समजाववानी भाग्येज जरूर होय लाखो बल्के करोडो माणसोनो व्यवसाय ज खेती होय अने जगत आखुं अे व्यवसाय उपर अवलंबित होय त्यारे व्यवसाय निषिद्ध होई न ज शके.

अर्थशास्त्रीओ कहे छे के हिंदुस्तानमां जोईये अेथी वधारे वस्ती छे अने अेथी लोको भुखे मरे छे. पण अे अर्थशास्त्रीओने हिन्दुस्ताननी परिस्थितिनी खबर नथी अेम आपणे कही शकीअे हिंदुस्तानमां केटलीय जमीन वणखेडाअेली पडी छे, केटलाक प्रदेशोने लोकोअे निरुपयोगी गणी नाख्या छे अने सरकार देशनी न होवाथी देशनी आर्थिक अने सामाजिक उन्नति तरफ ध्यान नथी आपती—अने आने लीधे अेम लागे छे के जाणे हिन्दुस्तानमां वस्ती वधी पडी छे अने भूखमरो फेलायो छे; जो नकामी पडी रहेली जमीनने खेडवामां आवे, कृषि-विषयक योग्य शोधखोळो थाय अने स्वदेशी सत्ता अे काम हाथमां ले तो सारोद्धार संभवी शके; हिंदुस्ताननां चालीसे करोड जीवमांथी कोईने भूख्या न रहेवुं पडे अेवी हिन्दुस्ताननी आबादी खेती उपर ज अवलंबे छे आवे वखते खेती करवी. अे अेक आपद्धर्म नथी परन्तु अेक फरज छे.

जैनशास्त्रोअे गृहस्थजीवनमां खेतीनो विरोध क्यांय नथ अेम स्पष्ट पणे-उपर जणावेलां प्रमाणोथी-मालूम पडे छे. जीवनमां सत्य अने अहिंसानुं पालन करवुं जीवननां धारण पोषण अने सत्वसंशुद्धि ने माटेनी बधी प्रवृत्ति अेयार्थीअे यतनाथी करवी अेमांज अेनो धर्म समाअेलो छे; अने अेम यतनापूर्वक आचरण करनार मुमुक्षु कंई पाप कर्म बांधतो नथी. अेज आपणुं धर्मवचन छेः—

जयं चरे, जयं चिट्ठे, जयं आसे, जयं सए।
जयं भुञ्जन्तो भासंतो पावं कम्मं न बन्धइ ॥

निबंधनियोजकः—
प्रबोधचन्द्र बेचरदास पंडित





कृषिकर्म और जैनधर्म

प्राथमिक-भूमिका

——::::():::::——

जिस प्रकार भारतवर्ष को धर्म-प्रधान देश कहते हुए प्रत्येक भारतीय का मस्तक गौरवान्वित होता है, उसी प्रकार प्राचीन काल से भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश भी कहा जाता है। वस्तुतः आध्यात्मिकता की दृष्टि से धार्मिक विवक्षा से यह देश धर्मप्रधान है तो कला-कौशल एवं उद्योग-व्यवसाय की दृष्टि से कृषिप्रधान। भारतवर्ष के जितने नाम इतिहास एवं धर्म-शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं, उनमें इस पवित्र ऋषिभूमि को 'आर्यावर्त' नाम से भी संबोधित किया गया है। आर्यप्रजा का जिसमें निवास हो वही क्षेत्र आर्य-क्षेत्र, आर्यभूमि तथा आर्य-प्रदेश कहलाता है। अस्तुः

जैन वाङ्मय की प्राचीनता एवं साहित्यशोधकता अति गहन, गूढ़ एवं गवेषणीय है। जैन-धर्म जहाँ सूक्ष्मातिसूक्ष्म

જૈનશાસ્ત્રોએ ગૃહસ્થજીવનમાં ખેતીનો વિરોધ ક્યાંય નથી એમ સ્પષ્ટ પણે–ઉપર જણાવેલાં પ્રમાણોથી–માલૂમ પડે છે. જીવનમાં સત્ય અને અહિંસાનું પાલન કરવું જીવનનાં ધારણ પોષણ અને સત્વસંશુદ્ધિ ને માટેની બધી પ્રવૃત્તિ અર્થાર્થીએ યતનાથી કરવી એમાંજ એનો ધર્મ સમાએલો છે; અને એમ યતનાપૂર્વક આચરણ કરનાર મુમુક્ષુ કંઈ પાપ કર્મ બાંધતો નથી. એજ આપણું ધર્મવચન છેઃ—

जयं चरे, जयं चिट्ठे, जयं आसे, जयं सए।
जयं भुञ्जन्तो भासंतो पावं कम्मं न बन्धइ ॥

નિબંધનિયોજકઃ—
પ્રબોધચન્દ્ર બેચરદાસ પંડિત





कृषिकर्म और जैनधर्म

प्राथमिक-भूमिका

——::::():::——

जिस प्रकार भारतवर्ष को धर्म-प्रधान देश कहते हुए प्रत्येक भारतीय का मस्तक गौरवान्वित होता है, उसी प्रकार प्राचीन काल से भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश भी कहा जाता है। वस्तुतः आध्यात्मिकता की दृष्टि से धार्मिक विवक्षा से यह देश धर्मप्रधान है तो कला-कौशल एवं उद्योग-व्यवसाय की दृष्टि से कृषिप्रधान। भारतवर्ष के जितने नाम इतिहास एवं धर्म-शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं, उनमें इस पवित्र ऋषिभूमि को 'आर्यावर्त' नाम से भी संबोधित किया गया है। आर्यप्रजा का जिसमें निवास हो वही क्षेत्र आर्य-क्षेत्र, आर्यभूमि तथा आर्य-प्रदेश कहलाता है। अस्तुः

जैन वाङ्मय की प्राचीनता एवं साहित्यशोधकता अति गहन, गूढ़ एवं गवेषणीय है। जैन-धर्म जहाँ सूद ।ि ़ द

आध्यात्मिकता का आदेश करता है वहाँ पर अपने सांसारिक व्यवहार एवं गृहस्थ धर्म-संचालन के लिये वह मर्यादित जीवन का भी यथेष्ट विधान करता है। परन्तु इतनी गूढ़ता एवं विचारशीलता के अध्ययन का हमारी वर्तमान जैन समाज में अभाव होने के कारण सम्प्रति कतिपय जटिल समस्याएँ इस प्रकार उपस्थित होती हैं, जिनका समाधान अति सरल होते हुए भी दुष्कर सा जान पड़ता है।

वस्तुतः मार्ग दो प्रकार के होते हैं—१ निवृत्ति मार्ग तथा २ प्रवृत्तिमार्ग। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो उत्सर्ग मार्ग तथा अपवाद मार्ग भी कहा जा सकता है।

प्रथम मार्ग जिसका कि नाम उत्सर्ग मार्ग है, श्रमणधर्म कहा जाता है—इस मार्ग का आराधक त्रिकरण एवं योगत्रय रूप सावद्य कार्यों से सर्वथा मुक्त रहता है जब कि दूसरे अपवादमार्ग का पालक धर्म की आराधना तो करता है परन्तु सांसारिक मोह-पाशादि बन्धनों से सर्वथा निवृत्ति प्राप्त नहीं कर सकता। उसे अपने गृहस्थधर्म के संचालनार्थ, कुछ अपवाद मार्गों का अवलम्बन लेकर उपयोगपूर्वक धर्म की शोध करनी पड़ती है। इसी धर्ममार्ग का नाम श्रावकधर्म है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प्रत्येक व्यक्ति उत्सर्ग मार्गानुसारी नहीं हो सकता है। दोनों वर्गों में से एक वर्ग अपवाद मार्गानुसारी होकर अपने लक्ष्यबिन्दु की सिद्धि का साधक बनता है। अब विचार इस बात का करना है कि

ऐसे अपवाद मार्ग कौनसे हैं ?

स्थानांगसूत्र के ३ रे ठाणे प्रथम उद्देशे के १३०वें सूत्र में तथा जीवाभिगमसूत्र में मनुष्य के तीन भेद किये गये हैं—१ला कर्मभूमिज, २रा अकर्मभूमिज तथा ३रा आन्तरद्वीपिक। कर्मभूमि की व्याख्या करते हुए शास्त्रकार ने यह बतलाया है कि कृषि, वाणिज्य, तप संयमादि अनुष्ठान प्रधान भूमि को कर्मभूमि कहते हैं। अर्थात् असि, मसि एवं कृषि का जहाँ व्यापार होता हो वही कर्मभूमि है। उपरोक्त तीन प्रकार के व्यापारों में से एक भी व्यापार का जहाँ असद्भाव हो वह स्थान निष्कर्मण्य एवं निरुपयोगी है। उक्त तीन कार्यों को उपयोगपूर्वक करने वाला ही अपने चरम लक्ष्य की सिद्धि प्राप्त कर सकता है। शेष दो अर्थात् अकर्मभूमिज तथा आन्तरद्वीपिक मनुष्य निर्व्यवसायी, निरुद्योगी एवं निष्कर्मण्य रहते हैं तथा उनकी जीवन-डोर कल्पवृक्षों के आश्रित रहती है। अतः वर्तमानकाल की दृष्टि से तथा मुमुक्षुमात्र के हितसाधन की दृष्टि से वे स्थल महत्त्व पूर्ण एवं उपादेय नहीं कहे जा सकते हैं। महत्त्व पूर्ण एवं उपादेय स्थल वही कहा जा सकता हैं जहाँ मानवदेह के धारण करने की सार्थकता सिद्ध हो सके। यदि कोई यह शंका करे कि अकर्मभूमि में कुछ पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता, किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति नहीं की जाती, और ऐसा होते हुए भी वहाँ का जीवन सुखप्रद ही है फिर इस मायाजाल और मोह-प्रपंचमय भूमि

आध्यात्मिकता का आदेश करता है वहाँ पर अपने सांसारिक व्यवहार एवं गृहस्थ धर्म-संचालन के लिये वह मर्यादित जीवन का भी यथेष्ट विधान करता है। परन्तु इतनी गूढ़ता एवं विचारशीलता के अध्ययन का हमारी वर्तमान जैन समाज में अभाव होने के कारण सम्प्रति कतिपय जटिल समस्याएँ इस प्रकार उपस्थित होती हैं, जिनका समाधान अति सरल होते हुए भी दुष्कर सा जान पड़ता है।

वस्तुतः मार्ग दो प्रकार के होते हैं—१ निवृत्ति मार्ग तथा २ प्रवृत्तिमार्ग। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो उत्सर्ग मार्ग तथा अपवाद मार्ग भी कहा जा सकता है।

प्रथम मार्ग जिसका कि नाम उत्सर्ग मार्ग है, श्रमणधर्म कहा जाता है—इस मार्ग का आराधक त्रिकरण एवं योगत्रय रूप सावद्य कार्यों से सर्वथा मुक्त रहता है जब कि दूसरे अपवादमार्ग का पालक धर्म की आराधना तो करता है परन्तु सांसारिक मोह-पाशादि बन्धनों से सर्वथा निवृत्ति प्राप्त नहीं कर सकता। उसे अपने गृहस्थधर्म के संचालनार्थ, कुछ अपवाद मार्गों का अवलम्बन लेकर उपयोगपूर्वक धर्म की शोध करनी पड़ती है। इसी धर्ममार्ग का नाम श्रावकधर्म है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है; प्रत्येक व्यक्ति उत्सर्ग मार्गानुसारी नहीं हो सकता है। दोनों वर्गों में से एक वर्ग अपवाद मार्गानुसारी होकर अपने लक्ष्यबिन्दु की सिद्धि का साधक बनता है। अब विचार इस बात का करना है कि

ऐसे अपवाद मार्ग कौनसे हैं ?

स्थानांगसूत्र के ३ रे ठाणे प्रथम उद्देशे के १३०वें सूत्र में तथा जीवाभिगमसूत्र में मनुष्य के तीन भेद किये गये हैं— १ला कर्मभूमिज, २रा अकर्मभूमिज तथा ३रा आन्तरद्वीपिक। कर्मभूमि की व्याख्या करते हुए शास्त्रकार ने यह बतलाया है कि कृषि, वाणिज्य, तप संयमादि अनुष्ठान प्रधान भूमि को कर्मभूमि कहते हैं। अर्थात् असि, मसि एवं कृषि का जहाँ व्यापार होता हो वही कर्मभूमि है। उपरोक्त तीन प्रकार के व्यापारों में से एक भी व्यापार का जहाँ असद्भाव हो वह स्थान निष्कर्मण्य एवं निरुपयोगी है। उक्त तीन कार्यों को उपयोगपूर्वक करने वाला ही अपने चरम लक्ष्य की सिद्धि प्राप्त कर सकता है। शेष दो अर्थात् अकर्मभूमिज तथा आन्तरद्वीपिक मनुष्य निर्व्यवसायी, निरुद्योगी एवं निष्कर्मण्य रहते हैं तथा उनकी जीवन-डोर कल्पवृक्षों के आश्रित रहती है। अतः वर्तमानकाल की दृष्टि से तथा मुमुक्षुमात्र के हितसाधन की दृष्टि से वे स्थल महत्त्वपूर्ण एवं उपादेय नहीं कहे जा सकते हैं। महत्त्वपूर्ण एवं उपादेय स्थल वही कहा जा सकता है जहाँ मानवदेह के धारण करने की सार्थकता सिद्ध हो सके। यदि कोई यह शंका करे कि अकर्मभूमि में कुछ पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता, किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति नहीं की जाती, और ऐसा होते हुए भी वहाँ का जीवन सुखमय ही है फिर इस मायाजाल और मोह-प्रपंचमय

को श्रेयस्कर क्यों कहा जाय ? इस संकटमय जीवन-भूमि को भी मानव जीवन के लिए उपादेय क्यों माना जाय ?

उपरोक्त शंका का समाधान यही है कि उस निष्कर्मण्य एवं परवश जीवन मे क्या जहाँ विना स्वोपार्जित वाह्य-साधनों के उदरपूर्ति भी दुष्कर हो जाय। यद्यपि यह भूमि संकटमय जीवन भूमि है-परन्तु जिस प्रकार स्वर्ण की संघर्षणादि चार प्रकार से परीक्षा होती है उसी प्रकार से त्याग, शील, गुण एवं कर्म के द्वारा मनुष्य की भी कसौटी की जाती है—इस भूमि में मानव अपने विकास का एवं सन्मार्ग का शोधक वनता है—आवागमन के भव-भ्रमण के चक्कर में से निकल सकता है। प्रथम यहाँ का जीवन संकटापन्न एवं दुःखद दृष्टिगोचर होता है परन्तु पुरुषार्थ की उच्चतम कसौटी से मनुष्य-मात्र स्ववशता (आत्मविजय) को सहज ही वरण कर सकता है। यह जीवन प्रथम पापकारी एवं प्रवृत्तिमय भी हो परन्तु प्रवृत्ति में से निवृत्ति प्राप्त करना ही यथार्थ विजय है।

विपय-प्रवेश—

उपरोक्त कर्म भूमि का वर्णन करते हुए आचार्य श्री उमास्वाति ने अपने तत्वार्थ सूत्र में मनुष्यों के दूसरी तरह से दो भेद किये हैं—"आर्या म्लेच्छाश्च" आर्य शब्द के विस्तृत विवेचन में आचार्य अकलंक देव ने आर्य के ६ भेद किये हैं:—१ क्षेत्रार्य, २ ज्ञात्यार्य, ३ कुलार्य, ४ कर्मार्य, ५ शिल्पार्य और ६ भाषार्य। अनुचित विपय विस्तार के भय से यहाँ केवल

प्रथम तथा चतुर्थ भेद की व्याख्या करके अपने प्रतिपाद्य-विषय का विवेचन करना ज्यादा युक्तियुक्त होगा। क्षेत्रार्यः—पन्द्रह कर्म भूमियों में जन्म धारण करने वाला ही क्षेत्रार्य कहा जाता है। कर्म की दृष्टि से वही आर्य कहा जाता है जो अनाचार्यक कर्म की अपेक्षा से आर्य है। यथा-यजन, याजन, अध्ययनाध्यापन, कृषि, वाणिज्य तथा लेखनादि के कर्ता कर्मार्य की कोटि में परिगणित किये जाते हैं। कर्मार्य के उक्त विवेचन से हमारे विषय की पुष्टि में पूर्ण समर्थन मिलता है कि प्राचीन काल में जिस प्रकार अध्ययनाध्यापनादि कार्य वरेण्य एवं ग्राह्य समझे जाते थे उसी प्रकार कृषि कर्म भी एक पवित्र कार्य समझा जाता था। यद्यपि जैन धर्म का सार एक शब्द में कहा जाय तो 'त्याग' है परन्तु जहाँ तक मर्यादित गृहस्थ जीवन यापन किया जाता है वहाँ तक प्रत्येक मानव को प्रजा-पोषक एवं अल्पारंभजन्य किसी न किसी वृत्ति का आश्रय लेना ही पड़ता है। ऐसी वृत्ति यदि विश्व में कोई होवे तो कृषि के अतिरिक्त अन्य दृष्टिगोचर नहीं होती। कृषि-कर्म जैन शास्त्रों के अन्दर विहित है या निषिद्ध ? इस समस्या को सामान्यतया सुगम बनाने के लिए श्री मदुपासकदशांगसूत्र के आधार से इसकी सिद्धि हो सकती है—क्योंकि कृषि-कार्य गृहस्थ के द्वारा ही किया जा सकता है किसी साधु, संन्यासी अथवा सर्वथा त्यागी पुरुषों द्वारा नहीं। अतः प्रस्तुत विषय की पुष्टि के लिये हमें अपने लिए आदर्श-स्वरूप धर्म-प्राण एवं मर्यादाजीवी श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के श्रावकों

के जीवन चरित की ओर दृष्टिपात करना युक्ति संगत होगा।

श्रीमदुपासकदशांग सूत्र में जहाँ आनन्दादि श्रावकों का सविस्तर वर्णन किया है, वहाँ आनन्द श्रावक के त्याग-प्रकरण में जब वे अपनी सम्पूर्ण परिग्रह सम्बन्धी इच्छाओं का परिमाण करते हैं; यह उल्लेख स्पष्ट आता है कि "तदा-एन्तरं खेत्त-वत्थुविहं परिमाणं करेन्ति" सूत्र पाठ से स्पष्ट सूचित होता है कि क्षेत्र-विधि की इच्छाओं का परिमाण-मात्र किया जाता है त्याग नहीं। यदि त्याग किया जाता होता अथवा क्षेत्र-विधि (कृषि-कर्म) निषिद्ध होती तो 'परिमाणं' की जगह 'पच्चक्खाणं' शब्द होता। क्योंकि जैन-शास्त्रों में कहीं किसी भी कार्य को निन्द्य कहा जाता है तो स्थान स्थान पर 'पच्चक्खाणं' शब्द अवश्य दे दिया जाता है अतः कृषि-कर्म अवश्य विहित है, ऐसा निर्विवाद सिद्ध हो जाता है। श्रावक के १२ व्रतों में प्रत्येक व्रत के ५-५ अतिचार हैं एवं सावद्य-कार्य युक्त कार्यों का प्रत्येक व्रत में तत्तत्सम्बधी पापों के त्याग का श्रावक प्रत्याख्यान करता है-परन्तु कृषि कर्म के प्रत्या-ख्यान का उल्लेख कहीं पर भी नहीं देखा जाता। इसका कारण यही कि गृहस्थधर्म के लिये कृषि-कर्म अनिवार्य, आव-श्यक एवं सर्वथा ग्राह्य-व्यवसाय है।

सातवें उपभोग व्रत में जहाँ २६ बोल की मर्यादा एवं तद्व्यतिरिक्त प्रत्येक वस्तु का त्याग किया जाता है, वहां कृषि-सम्बन्धी कोई उल्लेख नहीं पाया जाता। यदि कृषि-कर्म

पापमय एवं महारंभयुक्त होता तो जैनागमों में कहीं न कहीं अवश्य उसके लिये निषेधात्मक विवरण प्राप्त होता।

कई एक शास्त्र के रहस्य को नहीं जानने वाले लोग एक बड़ी भारी शंका यह करते हैं कि जैनधर्म तो सूक्ष्म अहिंसा का उपदेशक एवं प्रतिपादक है, उसके विपरीत यदि हम कृषि करें तो उसमें कई एक स्थावर एवं त्रस (बेइंद्रिय, तेइंद्रिय, तथा चतुरिन्द्रिय) जीवों की हिंसा होगी, साथ ही वृषभादि पंचेंद्रिय प्राणियों को अधिक भार वहन करने से दुःख सहन करना होगा अतः ऐसा व्यवसाय जिसमें हिंसा की आदि से अन्त तक परम्परा हो, जैन-धर्म की दृष्टि से वह व्यवसाय तो त्याज्य ही है। परन्तु उपरोक्त शंका के मूल में ही विचारशून्यता है। यदि इस प्रकार से प्रत्येक व्यवसाय में सूक्ष्म हिंसा का विचार कर समाधि ले ली जाय तो प्राण-धारण एवं जीवन निर्वाह प्राणी-मात्र के लिए दूभर हो जाय। उपरोक्त शंका करने वाले भाई कलम-शस्त्र से पंचेंद्रिय प्राणियों की हिंसा करते वक्त किसी प्रकार का विचार नहीं करते, परन्तु कृषि जैसे पवित्र उद्योग में हिंसा सिद्ध करके लोक में हास्यास्पद बनते हैं।

दूसरी बात यह है कि यदि किसी अल्प पाप के परिणाम-स्वरूप महान् पुण्योपार्जन किया जा सकता हो विश्ववर्ती-मानव-मात्र का पोषण किया जा सकता हो, आश्चर्य है कि ऐसे पुनीत व्यावसायिक यज्ञ को निन्दित माना जाए।

यदि कृषि कर्म धर्म-शास्त्रों में उद्दिष्ट नहीं होता तो स्थानांग सूत्र के ९ वें स्थानक में ६७६ वें सूत्र में पुण्य के ९ भेद के 'अन्न पुण्ये, एवं वस्त्र पुण्ये, आदि जो भेद किये हैं, उन भेदों से स्पष्ट ध्वनित होता है कि अन्न एवं वस्त्रादि का दान देने से पुण्य होता है—पुण्य ही नहीं अपितु शुभ भावनाओं के योग से तीर्थङ्कर नाम कर्म तक उपार्जित किया जा सकता है। सुज्ञ पाठको ! अब बतलाइये कि कृषि ही न की जाय तो कृषि से उत्पन्न होने वाले फल रूप अन्न एवं वस्त्र की प्राप्ति तो स्वप्नवत ही रहे या नहीं ? फिर उन पदार्थों के पुण्य की तो कल्पना ही वृथा है। पुण्य की बात तो दूर रही, अपना स्वयं का निर्वाह असंभव हो जाय।

वर्तमान में भारतवर्ष में सैकड़ों मीलें चल रही हैं, और करोड़ों रुपयों का कपड़ा विदेशी यंत्रों के आधार पर तैयार कर रही हैं; परन्तु यदि कृषक कृषि न करे, कपास न बोवे तो उन मिल मालिकों को अपने करोड़ों के व्यवसाय के लिये रुई कहाँ से प्राप्त हो ? वे अपने कारखाने किस आधार से चलावें ? तात्पर्य यह है कि कृषि किये बिना न तो खाने को दाना प्राप्त हो न पहिनने को वस्त्र। अतः हमें बरबस इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि सम्पूर्ण विश्व में और खास कर इस कृषि-प्रधान देश में जितने भी प्रधान एवं बड़े बड़े व्यवसाय हैं सभी कृषिमूलक हैं, बिना कृषि के सभी बिना एक की शून्यवत् शून्य हैं।

यदि इस विषय को ऐतिहासिक दृष्टि से विचारा जाय तो हमें इस कर्मभूमि के सर्व प्रथम राजा अथवा जन्मदाता भगवान् ऋषभदेव के शासन-काल को स्मरण करना होगा। यदि कृषि आवश्यक वस्तु न होती तो भगवान् ऋषभदेव जो कि जन्मतः तीन ज्ञान के धारक थे, जिन्होंने विश्व को स्व-- निर्वाहार्थ प्रत्येक कला एवं व्यवसाय की प्राथमिक शिक्षा दी थी-न देते। प्रभु ने जिन ७२ कलाओं का आविष्कार किया उसमें २६ वीं कला 'कृषि' कला ही है। अथवा यों कहें कि प्रभु ने सम्पूर्ण भारतीय कृषि-शास्त्र का मन्थन 'कृषिकला' के के रूप में कर दिखाया, जिससे कि वर्तमान काल में भी सम्पूर्ण भारतवर्ष का निर्वाह चल रहा है। प्रभु ने यह सिद्ध करके बतला दिया था कि कृषि ही मानव-मात्र का जीवन है, विना कृषि के गृहस्थाश्रम धर्म संचालन दुष्कर है।

सम्प्रति भारतवर्ष में कतिपय प्रान्तों में जो क्षुधापीड़ितों के दुःखद आर्तनाद सुनने को मिल रहे हैं, उसका एक मात्र कारण भी मुझे तो कृषि का अभाव ही ज्ञात होता है। दलित वर्गने यह समझ कर कृषि करना कम कर दिया कि बड़े बड़े शहरों में मजदूरी, नौकरी तथा कुली आदि के धंधे करने से जीवन-निर्वाह सुलभ होगा, तथा धनिक वर्ग ने अर्थ-प्राप्ति में लुब्ध एवं गृद्ध बनकर अपने बड़े बड़े हिंसामूलक व्यवसायों की ओर, सट्टे आदि व्यापारों की ओर अथवा दूसरे शब्दों में एक मात्र अर्थ प्राप्ति की ओर, फिर वह चाहे किसी प्रकार क्यों न हो—मूल लक्ष्य दिया, जिसके फल स्वरूप प्राचीन

यदि कृषि कर्म धर्म-शास्त्रों में उद्दिष्ट नहीं होता तो स्थानांग सूत्र के ९ वें स्थानक में ६७६ वें सूत्र में पुण्य के ९ भेद के 'अन्न पुण्ये, एवं वस्त्र पुण्ये, आदि जो भेद किये हैं, उन भेदों से स्पष्ट ध्वनित होता है कि अन्न एवं वस्त्रादि का दान देने से पुण्य होता है—पुण्य ही नहीं अपितु शुभ भावनाओं के योग से तीर्थङ्कर नाम कर्म तक उपार्जित किया जा सकता है। सुज्ञ पाठको ! अब बतलाइये कि कृषि ही न की जाय तो कृषि से उत्पन्न होने वाले फल रूप अन्न एवं वस्त्र की प्राप्ति तो स्वप्नवत् ही रहे या नहीं ? फिर उन पदार्थों के पुण्य की तो कल्पना ही वृथा है। पुण्य की बात तो दूर रही, अपना स्वयं का निर्वाह असंभव हो जाय।

वर्तमान में भारतवर्ष में सैकड़ों मीलें चल रही हैं, और करोड़ों रुपयों का कपड़ा विदेशी यंत्रों के आधार पर तैयार कर रही हैं; परन्तु यदि कृषक कृषि न करे, कपास न बोवे तो उन मिल मालिकों को अपने करोड़ों के व्यवसाय के लिये रुई कहाँ से प्राप्त हो ? वे अपने कारखाने किस आधार से चलावें ? तात्पर्य यह है कि कृषि किये विना न तो खाने को दाना प्राप्त हो न पहिनने को वस्त्र। अतः हमें बरबस इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि सम्पूर्ण विश्व में और खास कर इस कृषि-प्रधान देश में जितने भी प्रधान एवं बड़े बड़े व्यवसाय हैं सभी कृषिमूलक हैं, विना कृषि के सभी विना एके की शून्यवत् शून्य हैं।

यदि इस विषय को ऐतिहासिक दृष्टि से विचारा जाय तो हमें इस कर्मभूमि के सर्व प्रथम राजा अथवा जन्मदाता भगवान् ऋषभदेव के शासन-काल को स्मरण करना होगा। यदि कृषि आवश्यक वस्तु न होती तो भगवान् ऋषभदेव जो कि जन्मतः तीन ज्ञान के धारक थे, जिन्होंने विश्व को स्व-निर्वाहार्थ प्रत्येक कला एवं व्यवसाय की प्राथमिक शिक्षा दी थी-न देते। प्रभु ने जिस ७२ कलाओं का आविष्कार किया उसमें २६ वीं कला 'कृषि' कला ही है। अथवा यों कहें कि प्रभु ने सम्पूर्ण भारतीय कृषि-शास्त्र का मन्थन 'कृषिकला' के के रूप में कर दिखाया, जिससे कि वर्तमान काल में भी सम्पूर्ण भारतवर्ष का निर्वाह चल रहा है। प्रभु ने यह सिद्ध करके बतला दिया था कि कृषि ही मानव-मात्र का जीवन है, विना कृषि के गृहस्थाश्रम धर्म संचालन दुष्कर है।

सम्प्रति भारतवर्ष में कतिपय प्रान्तों में जो क्षुधापीड़ितों के दुःखद आर्तनाद सुनने को मिल रहे हैं, उसका एक मात्र कारण भी मुझे तो कृषि का अभाव ही ज्ञात होता है। दलित वर्गने यह समझ कर कृषि करना कम कर दिया कि बड़े बड़े शहरों में मजदूरी, नौकरी तथा कुली आदि के धंधे करने से जीवन-निर्वाह सुलभ होगा, तथा धनिक वर्ग ने अर्थ-प्राप्ति में लुब्ध एवं गृद्ध बनकर अपने बड़े बड़े हिंसामूलक व्यवसायों की ओर, सट्टे आदि व्यापारों की ओर अथवा दूसरे शब्दों में एक मात्र अर्थ प्राप्ति की ओर, फिर वह चाहे किसी प्रकार क्यों न हो—मूल लक्ष्य दिया, जिसके फल स्वरूप प्राचीन

आर्य-संस्कृति की विनाश रूप अवनति अपनी आँखों हमें अपने कमनसीब से देखनी पड़ती है। यदि प्रत्येक भारतीय प्रजा अपने मूल व्यवसाय कृषि को कायम रखती हुई अन्य पेशों की ओर ध्यान देती तो यह ज्यादा सफल, सम्पन्न तथा सविशेष समुन्नत होती। फिर चाहे भारत-सरकार करोड़ों क्या अरबों मन धान तक इस भारत वसुन्धरा से विदेशों को ले जाती तो भी हमारे को भूखों मरने की नौबत न आती। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि प्राचीन काल में जब यही आर्यभूमि स्वर्ण भारत नाम से प्रख्यात थी, वह केवल इसी कृषिकर्म के बलपर। क्योंकि वर्तमान विज्ञानवाद एवं भौतिकवाद उस समय प्रचलित नहीं थे।

प्रस्तुत विषय पर साम्पत्तिक शास्त्र को लक्ष्य में रख कर विचार किया जाय तो यह निष्कर्ष निकलता है कि कृषि ही किसी गृहस्थ की सच्ची सम्पत्ति है। आनन्दादि श्रावकों ने अपनी सम्पत्ति के चार विभाग किये थे। उसमें चतुर्थांश कृषि के लिए भी रखा था—वह काल इतना सुखद था कि जीवन निर्वाह तो मानव-मात्र के लिये सामान्य बात थी फिर भी आनन्द श्रावक जैसे महान् श्रावकों ने अपनी सम्पत्ति का चौथा हिंसा कृषि के लिए रखा था उसमें भावी प्रजा के कल्याण का भी अवश्य ध्यान रखा गया होगा ऐसा विना स्वीकार किये हमारी बुद्धि संतोष नहीं मानती। आपत्ति काल में दुर्भिक्षादि में धातुम्य सम्पत्ति सोना चांदी, स्थावर सम्पत्ति मकान भवनादि, तथा वस्त्र रूप सम्पत्ति मनुष्य को

आश्रय भूत नहीं होती, उसके समीप यदि अन्न भण्डार की कमी के सिवाय अन्य सभी प्रकार की सम्पत्तियाँ पूर्ण रूपेण विद्यमान हों, परन्तु ऐसे समय में वे सभी सम्पत्तियाँ नगण्य हैं। प्रत्येक विचारवान् मानवी यह सोच सकता है कि ऐसे समय में वास्तविक सम्पत्ति क्या है ? अस्तु;

राजनैतिक दृष्टिकोण से यह ज्ञात होता है कि विना कृषि के किसी भी राज्य की नींव मजबूत होना एवं उस देश का धनधान्यसम्पन्न होना मुश्किल है। यदि कृषि न की जाय तो "शष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः" के नियमानुसार राज्य को खेती के कर एवं लगान की आय भी नहीं हो सकती। राजनीति तो यहाँ तक मानने को बाध्य करती है कि सच्चा अन्नदाता कृषक है एवं सच्ची सम्पत्ति भी कृषि द्वारा उपार्जित धन-धान्यादिक ही है।

कृषि विषय को शास्त्रविहित सिद्ध करने के लिए यदि आध्यात्मिक दृष्टिकोण लिया जाय तो विदित होता है कि कृषि करने वाले के हृदय में स्वभावतः उदारता, हृदय की विशालता, प्रकृति-सारल्य, निष्कपटपना आदि आत्मा के स्वाभाविक धर्मों का यथेष्ट रूप से नैसर्गिक विकास होता है। अन्य व्यवसायियों में उपरोक्त गुणों का पाना तो ठीक परन्तु तद्विषयक कल्पना भी असंगत है।

जिस प्रकार पूज्य बापूजी का चरखा सद्विचारों का प्रेरक, एक ध्यानतानुप्राणक, स्वावलम्बन का शिक्षक तथा परतंत्रता-पाश से मुक्ति दिलाने का मूल मन्त्र है उसी प्रकार

सभी गुण कृषि में भी हैं। यदि कृषि-प्रधान भारतवर्ष सचमुच एक वार पुनः कृषिप्रधान ही वन जाय, भारतीय प्रजा अर्थ-प्राप्ति में लुब्ध वनकर भारत के प्रधान नगरों में घृणित से घृणित व्यापारों में संलग्न है, उन्हें छोड़ कर कृषि को अपने गले का हार वनावें तो अपने वास्तविक धन एवं धर्म की यथेष्ट रूप से रक्षा कर सकते हैं। अपने नेत्रों के समक्ष होने वाले मूक पशुओं के वध को प्रत्यक्ष ही वचा सकते हैं। इस प्रकार पशुधन की रक्षा के साथ अहिंसा का आचरण करते हुए पुनः विश्व को जैनधर्म का पाठ सिखा सकते हैं। एक विद्वान् के शब्दों में कहा जाय तो "जो संस्कृति धर्म एवं नीति का अनुसरण कर शरीर, मन एवं आत्मा के विकास में सहायक होती है वही असल संस्कृति है। हिंदुस्तान में जव जव इस संस्कृति की विजय हुई, तव वहाँ सुख, समृद्धि और आनन्द छाया रहता था, भगवान् ऋषभदेव, रामचन्द्र, महावीर इस संस्कृति के सुन्दर स्मारक है।" उक्त कथन के आधार पर हमें कृषिव्यवसाय ही ऐसा दृग्गोचर होता है जहाँ धर्म एवं नीति का अनुसरण करते हुए सांस्कृतिक एवं आत्मिक विकास हो। अतः कृषि व्यवसाय अपेक्षाकृत निरवद्य एवं निर्दोष है। आत्मगुणों का पोषक है—जव कि अन्य-सभी व्यवसाय शोषक।

व्यावहारिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि यदि सभी व्यापारों में कई एक प्रकार के विघ्न एवं संकट आते हैं, आर्थिक कठिनाइयाँ भी उपस्थित होती हैं—परन्तु एक कृषि रूप व्यापार ही ऐसा व्यापार है कि विना पूंजी के भी

गरीब से गरीब एवं दलित से दलित मानव इसको कर सकता है एवं दुनिया में अपना व्यवहार चला सकता है। यह व्यावहारिक कार्य है इसमें कोई बड़ी कलाओं की भी आवश्यकता नहीं पड़ती है अतः उपरोक्त सभी दृष्टियो से कृषि उत्तम है।

कुछ लोग जो कि अन्धश्रद्धा अथवा अविचार के शिकार बने हुए हैं—इस विषय में एक आड़ यह रखते हैं कि श्रावक के आठवें अनर्थादण्ड के ५ अतिचारों में 'पावकम्मोवएसे' नामक एक अनर्थ दण्ड है-तथा उसका अर्थ सामान्य तौर पर वे अपनी स्थूल बुद्धि से यह करते हैं कि ऐसा कोई भी कार्य जिसमें पाप लगने का अन्देशा हो नहीं करना चाहिये—ऐसा उनके मत से इस पाठ से ध्वनित होता है। परन्तु 'आवश्यक सूत्र' की टीका में देखा जाय तो इस विषय का किंचिन्मात्र भी उल्लेख नहीं। दुनिया की पच्चीसों क्रियाओं को शास्त्रकार ने अनर्थ दण्ड तथा पाप रूप परिगणित किया है परन्तु कृषि अथवा इनसे सम्बन्ध रखने वाले किसी कार्य को अनर्थ दण्ड अथवा पापरूप मानने का कोई हेतु शास्त्र में दृष्टिगोचर नहीं होता। इसकी सिद्धि का एक बहुत बड़ा प्रमाण यदि शोधा जाय तो यह भी कहा जा सकता है चरम तीर्थङ्कर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की उपस्थिति में कई एक उद्यान रहते थे-नाना प्रकार के फल फूलों की उत्पत्ति के साथ साथ कृषि भी की जाती थी, सहस्राम्र बाग एवं कई प्रकार के उद्यानों का वर्णन प्रत्येक शास्त्र में आता है— यहाँ तक कि

उन उद्यानों में स्वयं प्रभु महावीर के ठहरने का वर्णन स्थान स्थान पर आता है—यदि यह निन्द्य कर्म होता तो प्रथम तो प्रभु इसके करने में दोष है इस बात का वर्णन अवश्य करते, दूसरे स्वयं निरवद्य स्थान देकर उन उद्यानों में नहीं ठहरते। क्योंकि उद्यान एवं सहस्राम्र वन भी तो एक प्रकार के खेती के ही अंग हैं। यदि कोई शंका करे कि प्रभु के तो अतिशय होते हैं अतः उनको इसमें कोई दोष नहीं लग सकता तो प्रभु के पश्चात् उनके शिष्य सुधर्मास्वामी भी तो इसी प्रकार के उद्यानों में विचरण करते थे। यदि यह कर्म निन्द-नीय होता तो क्या उन महापुरुषों को अपनी भावी सन्तति को हित-बुद्धि सुझाने का तथा उसकी कल्याण कामना का कुछ भी खयाल न रहा होगा। अतः बुद्धि के व्यायाम एवं प्रस्तार से इसी निर्णय पर पहुँचना पड़ता है कि कृषि-कर्म जैन-धर्म के प्रत्येक दृष्टिकोण से अनुकूल एवं हितावह है।

'आवश्यक सूत्र' में जहाँ श्रावक के अकार्य कार्यों का वर्णन आया है वहाँ कृषि अकार्य है ऐसा एक भी वाक्य उप-लब्ध नहीं होता। जैसा कि निम्न गाथा से स्पष्ट होगा—

इंगाली, वण, साडी, भाडी फोडी सुवज्जए कम्मं।
वाणिज्जं चेव य दन्तं, लक्ख रस केस विस विसयं ॥ १ ॥
एवं खु जंतपिल्लण कम्मं, निल्लंछणं च दवदाणं;
सरदहतलाय सोसं, असइपोसं च वज्जिज्जा ॥ २ ॥

अर्थात् उक्त १५ कर्मादान जिससे जैन धर्मानुसारी श्रावक को भारी कर्मों का बन्धन होता है सर्वथा त्याज्य हैं।

सुज्ञ पाठको ! सोचिये, भाड़े की कमाई जैसे कार्य जो कि कर्मादान में गिने गये हैं—गाड़ियों के धन्धे आदि सभी व्यवसाय १५ महान् पाप कार्यों में प्रभु ने बतलाये हैं, परन्तु क्या कृषि को ऐसी पाप रूप मानी है ? आश्चर्य है कि हमारे वर्तमान श्रावक समाज में उपरोक्त व्यवसायों में जो कि धर्मशास्त्र की दृष्टि से निन्दित हैं—पाये जाते हैं—परन्तु खेती जो कि कर्तव्य कार्य है—जिससे धन की प्राप्ति एवं धर्म की रक्षा होती है बहुत अल्पांश में अथवा यों कहें कि नगण्य रूप में दृष्टि गोचर होती है। इस कृषि-कर्म के त्याग के साथ हम न केवल जैन धर्म के आदर्शों का नाश कर रहे हैं, अपितु सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति को रसातल में ले जाने में अपना पूर्ण सहयोग दे रहे हैं।

उपसंहार—हा ! हमारे जिन पूर्वजों ने कृषि के बल पर अपनी धवल कीर्ति एवं उज्ज्वल यश भूमण्डल में प्रसारित किया था, इस पवित्र यज्ञानुष्ठान से अमरता प्राप्त की थी उसी व्यवसाय को तिलांजली देकर अपने पूज्य पूर्वजों के नाम पर कलंक-कालिख पोतते हुए हमें किंचित् भी लज्जा का अनुभव नहीं होता। १८ पापस्थानकों का हम सेवन न करें तो हम अपने में मनुष्यत्व नहीं समझते, १५ कर्मादानों को कार्य रूप में हम न कर दिखावें तो हम मनुष्य जीवन की निरर्थकता सी अनुभव करते हैं। भारतीय संस्कृति के विनाशक वर्तमान विज्ञान-शास्त्र के पीछे बुरी तरह से पड़ कर ज्यादा से ज्यादा ऐश आराम एवं भोग विलास की लिप्सा से अभोग्य भोगों को भोग कर अकर्म भूमि के जीवों की भाँति अकर्मण्य बन जाने में अपना अहोभाग्य समझते हैं एवं अपने भाग्य की भूरि भूरि प्रशंसा करते हैं। यह सब हमारे भयंकर पतन की प्राथमिक सूचना ही है।

पूज्य गांधी जी समय समय पर एक ही सन्देश सूत्र सुनाते हैं कि—"भारतीय संस्कृति का पुनरुद्धार करना ही होगा—एक बार उसका पूर्णतया मन्थन करना ही होगा तभी भारतीय संस्कृति की उज्ज्वलता के साथ मानव-संस्कृति नूतन रूप में निर्मित होगी। भारतवर्ष वैभवविलास-प्रधान की जगह पुनः धर्म प्रधान एवं कृषि-प्रधान बनेगा तभी वह अपनी असली स्थितिमत्ता को प्राप्त करेगा।" वस्तुतः कृषि एवं आध्यात्मिकता का अन्योन्य घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर के जैनधर्म की सच्ची अहिंसा एवं यथार्थ तत्वज्ञान का परिचय विश्व को करा देने से ही विश्व का यथार्थ कल्याण हो सकता है। ऐसा होने से सम्पूर्ण जैन संस्कृति भारतीय संस्कृति को एवं भारतीय संस्कृति मानव संस्कृति (विश्व संस्कृति) को परिस्कृत, परिमार्जित एवं समुज्ज्वल बना देगी। तथा लोक स्वावलम्बन के यथार्थ सूत्र से परिचित होगा एवं विश्व-बन्धुत्व की वास्तविक भावना जागृत होगी।

अति संक्षेप में यही जैनधर्म एवं कृषि-कर्म का स्वरूप है तथा इसी में प्रत्येक जैन नामधारी की सार्थकता एवं यथार्थता है।

विनीत लेखकः—

कन्हैयालाल दक

समाप्त